राजस्थानी साहित्य का इतिहास

(आरम्भकाल—मध्यकाल)

लेखक
बी० एल० माली 'प्रशांत'

विवेक पब्लिशिंग हाउस
धानाणी मार्केट, चौड़ा रास्ता
जयपुर-302 003

प्रकाशक :
नरेन्द्र कुमार बाहरी
विवेक पब्लिशिंग हाउस
धामाणी मार्केट, चौड़ा रास्ता,
जयपुर–302 003

लेखक :
बी. एल. माली 'प्रशांत'

प्रथम सम्करण
सन् : 1990

मूल्य : 75 – (रुपये पचहत्तर मात्र)

मुद्रक :
श्री क्षीरसागर प्रिण्टर्स
4001, शाहरगढ़ रोड़, मोहन नगर मोड़
जयपुर–302 001

डॉ० विद्यानिवास मिश्र
को
सादर।

—'अशांत'

विषय-सूची

लेखकीय

किसी भाषा की प्रतिष्ठा उन लोगों पर निर्भर करती है जो उसको मातृ भाषा के रूप में अंगीकार करते हैं, उनमें अपनी मातृभाषा के प्रति अभिमान बोध है या नहीं। अगर भाषाभिमान उस भाषा के बोलने वालों में नहीं है तो फिर उस भाषा का पनपना और समृद्ध होना मुश्किल हो जाता है। बंगला जैसी भाषाओं के प्रति जितना अभिमान बोध बोलने वालों का रहा है, उसकी तुलना में राजस्थानी इतने सचेत नहीं थे। इसी वजह से राजस्थानी आज अपनी अस्मिता के लिए छटपटा रही है। जैसे-जैसे जागरूकता आई है वैसे-वैसे ही राजस्थानी साहित्य नवयुग के साथ उत्तरोत्तर समृद्ध होता गया है।

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय बन पड़ता है कि जो राजस्थानी मध्यकाल में समस्त राजस्थान की राजभाषा थी, आधुनिक काल में भाषाभिमान के अभाव में पहचान गो बैठी। आज उसके अपने ही पूछते हैं—राजस्थानी कौन सी ? जो जोधपुर के कुछ हल्कों में बोली जाती है वह राजस्थानी है, कि शेखावाटी के इलाके में बोली जाती है, वह राजस्थानी है ? हाड़ौती में बोली जाती है वह राजस्थानी है या ढूंढाड में बोली जाती है वह राजस्थानी है ? राजस्थानी मारवाड़ी है या मेवाड़ी ? राजस्थानी बागड़ी है या मेवाती ? कौनसी राजस्थानी है ? जिस भाषा के सामने इतने सारे प्रश्न हों उसकी स्थिति का भान आसानी से हो जाता है। इन प्रश्नों के बावजूद भी राजस्थानी एक भाषा है, एक समृद्ध भाषा है।

हर भाषा की उपभाषाएँ होती है, वैसे ही राजस्थानी की उपभाषाएँ हैं। मारवाड़ी, मेवाड़ी, मेवाती, हाडौती, बागडी, ढूंढाडी आदि राजस्थानी की उपभाषाएँ हैं। परन्तु इस तथ्य को भी नहीं नकार सकते कि राजस्थानी को महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे सत्पुरुष की तलाश है। मध्यकाल में राजस्थानी का समस्त राजस्थान प्रान्त में एक रूप था। आधुनिक काल में स्वतन्त्रता आन्दोलन को मध्य नजर रख राजस्थानी लेखक हिन्दी में लिखने लगे। परिणामस्वरूप राजस्थानी की गति अवरुद्ध हो गई। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि राजस्थान शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए प्रान्तों में से एक था। शिक्षक भी यहाँ बाहर के प्रान्तों से आए। उन्हें *राजस्थानी नहीं आती। उनकी अपनी परिसीमाएँ भी उन्हें जाने-अनजाने राजस्थानी* हितों के विरुद्ध ले गईं। यहाँ तक कि उन्होंने जनगणना में बिना-बूझे मातृभाषा के कालम में हिन्दी लिखकर समस्त राजस्थानी भाषियों को हिन्दी-भाषी बना दिया और मजे की बात तो यह है कि सरकार ने इस बात को सही मान लिया।

राजस्थानी इन्ही गलतियो, भूलो एवं हठधर्मिताओं से जूझ रही है। आठ करोड़ कण्ठों की भाषा को संविधान ने भी नकारा है। राजनेता उदासीन हैं। सबसे बड़ी पीडा युक्त बात तो यह है कि राजस्थान सरकार भी इस तरफ ध्यान नहीं दे रही है। यही इस भाषा की सबसे बड़ी त्रासदी है। राजस्थानी भाषा-भाषियों ने अव-हेलना का एक युग जीया है। इस युग से सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य प्रभावित हुआ है।

राजस्थानी भाषा की स्थिति का प्रभाव राजस्थानी साहित्य के इतिहास लेखन पर भी पडा। इस दिशा में धीरे-धीरे लोगों का ध्यान जाने लगा। प्रारम्भ में यह विश्वविद्यालयों की डिग्री का विषय बना और कुछ सार्थक प्रयास भी हुए। डॉ हीरालाल महेश्वरी का शोध प्रबन्ध इस हेतु उल्लेख करने योग्य है। इसके बाद डॉ मोतीलाल मेनारिया व पुरुषोत्तम मेनारिया ने इतिहास लिखे जो पुराने पड गए हैं और पुनर्लेखन की स्थिति में आ गए है। कुछ लेखो को एकत्रित कर इस दिशा मे रामप्रसाद दाधीच ने भी कुछ कार्य किया है। डॉ. गोरधन सिंह शेखावत ने एक संक्षिप्त प्रयास इस क्षेत्र मे किया है। डॉ. कल्याण सिंह शेखावत ने भी राजस्थानी साहित्य का इतिहास लिखा है। 'साहित्य का इतिहास' विषयक कुछ विषयों को लेकर कुछ शोध प्रबन्ध सामने आए है जिनमे से डॉ. किरण नाहटा का शोध प्रबन्ध उल्लेखनीय बन पड़ा है। डॉ नाहटा ने आधुनिक राजस्थानी साहित्य पर सराहनीय कार्य किया है। बेलि साहित्य पर डॉ. नरेन्द्र भानावत ने अच्छी सामग्री प्रस्तुत की तो वचनिका पर आलमशाह खान ने भी कुछ प्रयास किया। ऐसे ही श्याम महर्षि ने भी राजस्थानी कविता पर कुछ प्रयास किए। इसी तरह अनेकानेक शोध प्रबन्ध लिखे गए। परन्तु स्वतन्त्र रूप से इतिहास लेखन का कार्य राजस्थानी में नही हुआ। प्रो. नरोत्तम स्वामी ने कुछ पुराने पृष्ठो में अति संक्षिप्त रूप में साहित्य का इतिहास लिखा जो पाठको के लिए पर्याप्त नही था। सर्वप्रथम डॉ. हीरालाल महेश्वरी ने अंग्रेजी में ही नही परन्तु स्वतन्त्र रूप से इतिहास लेखन का काम, विश्वविद्यालयी शोध प्रबन्धों से हटकर किया। डॉ. हीरालाल महेश्वरी इस प्राचीन साहित्य के विद्वान हैं, परन्तु सन्त-साहित्य इनका प्रिय विषय रहा है। इस क्षेत्र में डॉ. महेश्वरी हिन्दुस्तान में जाने जाते है। इसी वजह से सन्त-साहित्य पर अधिक सामग्री संकलित हो गई। आधुनिक काल इनकी अधिक रुचि का विषय नहीं होने के कारण तुलनात्मक रूप से आवश्यक लेखन इस ग्रन्थ में नही आ सका। सन्त-साहित्य एवं बेलि साहित्य पर सविस्तार लिखने से अन्य विषयों को पर्याप्त विस्तार नही मिल सका, क्योंकि पृष्ठों की परिसीमा भी लेखक के समक्ष थी। फिर भी यह एक स्तुति योग्य प्रयास था। इसके बाद राजस्थानी साहित्य के इतिहास लेखन का ऐसा प्रामाणिक एवं स्वतन्त्र रूप से लिखने का प्रयास नहीं हुआ।

यहाँ पर 'परम्परा पत्रिका' का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है। इस पत्रिका के तीन अंक राजस्थानी साहित्य का आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन अंकों में अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग विषयों पर लेख लिखें हैं जो प्रचुर सूचना देने वाले हैं। परम्परा के राजस्थानी साहित्य का आदिकाल अंक में अगर चन्द नाहटा के तीन लेख बहुत महत्वपूर्ण है। डॉ. महेश्वरी ने भी इन लेखों का इतिहास में प्रचुर प्रयोग किया है। आदिकाल पर 'फागु' एवं 'रास' कृतियों पर भी अच्छा कार्य मिलता है। 'फागु' एवं 'रास' कृतियों का मूल पाठ एवं उनका विवेचन इतिहास लेखन में काफी सहायक है। इनके अतिरिक्त 'अनूप संस्कृत लाइब्रेरी' बीकानेर मे उपलब्ध हस्त प्रतियां भी काफी महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं। मध्यकाल एवं आधुनिक काल पर भी अनेक लेखों का संकलन कर 'परम्परा' ने इतिहास लेखको के लिए एक मार्ग दर्शन प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त शोध पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित सामग्री भी इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। राजस्थानी साहित्य के पुनर्प्रकाशन में राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, राजस्थानी शोध संस्थान, वरदा पत्रिका आदि का अभूतपूर्व योगदान है। साहित्य के इतिहास सम्बन्धी सामग्री चारण शोध संस्थान अजमेर, सादुल रिसर्च इन्स्टीट्यूट बीकानेर, भारतीय विद्या मन्दिर शोध संस्थान बीकानेर, बिड़ला शोध संस्थान पिलानी, सरस्वती पुस्तकालय फतेहपुर (शेखावाटी), शारदा सदन पुस्तकालय लक्ष्मणगढ (सीकर), पोथीखाना जयपुर, अगरचन्द नाहटा का संग्रहालय बीकानेर, हाड़ोती शोध सस्थान कोटा, पुरातत्व विभाग अलवर, मे संग्रहित हैं। परन्तु इन सबको संग्रहित कर क्रमबद्ध रूप मे लिखना और एक दृष्टि के साथ लिखना एक समस्या बनी रही।

राजस्थानी भाषा में राजस्थानी साहित्य का इतिहास प्रकाशन का प्रयास राजस्थानी भाषा बाल साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट लक्ष्मणगढ़ (सीकर), ने किया है। वह संक्षिप्त होते हुए भी सराहनीय है। आधुनिक साहित्य पर इस छोटे से प्रयास में जिस क्रमबद्धता के साथ आलोच्य दृष्टिकोण लिए सामग्री प्रस्तुत की गई है वह सराहनीय है। असलियत में देखा जाय तो यह पहला प्रयत्न है जो छात्रोपयोगी, लघु, परन्तु संतुलित प्रयास है। हां, इसमे कुछ छोटी-मोटी कमियां रही हैं परन्तु प्रूफ शोधन की त्रुटियां अखरती हैं।

इस इतिहास लेखन में विद्वानों एवं चिन्तकों का पूर्ण मार्ग दर्शन एवं सहयोग प्राप्त हुआ है। लेखकों, आलोचकों, शोध विद्यार्थियों एवं मित्रों का मैं ऋणी हूँ। मैं उन सब ज्ञात-अज्ञात लेखकों को भी नमन करता हूँ जिनकी कृतियों एवं कार्यों का उल्लेख व सन्दर्भ इस कृति में लिया गया है। मैं अपने समकालीन लेखकों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनकी कृतियों एवं कार्यों का सन्दर्भ मैंने

इस कृति में किया है। अध्ययन पश्चात् जैसा लिखा, वह परीक्षण हेतु आपके प्रस्तुत है। आपकी पारखी आँखें इस कार्य का सम्पूर्ण मूल्यांकन करेंगी। आपके विचार मुझे मार्ग दर्शन देंगे और आपकी प्रतिक्रिया मुझे वृहद् प्रयास हेतु प्रेरित करेगी।

यहाँ पर अपने दो अभिन्न बुजुर्ग विद्वान मित्रों का नामोल्लेख का लोभ मैं छोड़ नहीं पा रहा हूँ। श्री उमराव सिंह मंगल मुझे इस कार्य हेतु हमेशा प्रेरित करते। श्री चम्पालाल जी रांका जब भी मिलता कार्य की प्रगति पूछते। उनकी सद्प्रेरणा से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है। इनके प्रति आभार प्रकट कर मैं उनके सम्मान को न्यून नहीं करना चाहता।

अन्त में, मैं श्री नरेन्द्र जी बाहरी के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने इस कृति को पूरे मनोयोग के साथ प्रकाशित कर आप तक पहुँचाया।

आपके विचार मुझ तक पहुँचें, इसी विनय के साथ ,

आपका ही

बी. एल. माली 'अशांत'

विषय-प्रवेश

राजस्थानी राजस्थान प्रदेश की भाषा है। यह भारोपीय (इंडो-यूरोपीय) भाषा परिवार की सदस्य है। यह प्राचीन है, विशाल है, और भाँति-भाँति के विषयों से भरी-पूरी एक जीवन्त भाषा है। इसकी इस अन्तिम विशेषता ने कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर और महामना पं० मदनमोहन मालवीय जैसे महापुरुषों का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया है। प्रसिद्ध गुजराती भाषा के विद्वान झवेरचन्द मेघाणी कहते हैं—अपनी मातृभाषा का नाम राजस्थानी था। मेडता की मीरां इसी में अपने पदों की रचना करती और गाया करती। इन पदों को सौराष्ट्र की सीमा तक लोग गाते और अपना कर मानते। चारणों के दोहे भी राजस्थान की किसी सीमा में से उतरते और कुछ भेष बदल कर काठियावाड़ में घरघराऊ बन जाते। नरसी महता गिरनार की तलहटी में प्रभु पदों की रचना करता और ये ही पद यात्रियों के कंठों पर सवार हो जोधपुर, उदयपुर, पहुँच *जाया करते। इस युग से भी पहले दो कदम दूर रखें तो कच्छ-काठियावाड़* से लेकर प्रयागराज तक एक भाषा लम्बे-चौडे भूमि-खंड पर फैली हुई मिलेगी"""। अनगिनत लोगो की बोल-चाल की इस भाषा का नाम राजस्थानी है। इसकी *बेटियाँ फिर व्रजभाषा, गुजराती और आज की राजस्थानी नाम धारण करती* स्वतन्त्र भाषा बनी।

राजस्थानी का विकास अपभ्रंश से हुआ है। इसका प्राचीन नाम मरु-भाषा *था। सन् 778 (सं. 835) में रचित 'कुवलयमाला' में मरु-प्रदेश की बोली* की विशेषताओं की प्रथम जानकारी मिलती है। कई विद्वानों का-मत है कि राजस्थानी भाषा का जन्म पाँचवी शताब्दी के आस-पास हो गया होगा परन्तु उस वक्त की कोई विशेष रचनायें अभी तक मिली नहीं है।

राजस्थानी बोलने वालों की संख्या चार करोड़ से भी अधिक है। हिन्दी बंगला, तेलगू, तमिल और मराठी के बाद इस दृष्टि से राजस्थानी का ही नाम आता है। राजस्थानी और राजस्थान नाम नये, अंग्रेजो के जमाने के। इससे पूर्व समस्त राजस्थान का कोई एक नाम नही था। रियासतों के युग में जो अलग-अलग नाम होते, उससे मिलते-जुलते नाम ही अलग-अलग हिस्सों के होते। ये कुछ तो जमीं की किस्म से, कुछ वहाँ बसने वाली जातियों के नामों से पहचाने

जाते। मरु, जागळ, धाट, माड, मत्स्य, साल्व, मेदपाट, त्रवणी, वल्ल आदि नाम अति प्राचीन युग के हैं। मध्यकाल, में मेवाड, ढूंढाड़, हाडौती, गोठवाड़, मेरवाडा शेखावाटी, जगळधर, मेवात आदि नाम शुरू हुए। जेम्स टॉड की पुस्तक 'एनाल्स एण्ड एण्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान' में सर्वप्रथम राजस्थान का नाम आया। उन्होंने उस वक्त 'राजपूताना' नाम से जानी जाने वाली उस वक्त की रियासतों की प्राचीन बातें लिखी। राजस्थानी की प्राचीन 'ख्यातों' और 'बातों' में 'रायथान', 'राजस्थान', 'राजथान' आदि नाम राजधानी के रूप में काम मे लिए गए हैं। टॉड का दिया हुआ नाम समस्त राजपूताना के लिए चल पडा और लोकप्रिय हो गया। यही कारण है कि आजादी मिलने के पश्चात् इस प्रदेश का का नाम 'राजपूताना' की जगह 'राजस्थान' रखा गया। राजस्थान के स्थान-वाची नाम से यहां की भाषा का नाम 'राजस्थानी' रखा गया। इस तरह यह स्पष्ट है कि राजस्थानी अति प्राचीन भाषा है। इसका राजस्थानी नाम नया है। पहले यह मरुभाषा के नाम से जानी जाती। मध्यकाल में यह मारु-गुर्जर कहलाई और स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इसका नाम राजस्थानी पडा।

सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने जब 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' नामक महान् ग्रन्थ लिखा तो उन्होंने राजस्थान में बोली जाने वाली इकसार व्याकरण के ढांचे की सभी बोलियों का एक कुटम्ब, एक परिवार माना, और जैसे गुजरात की 'गुजराती' है वैसे ही राजस्थान की भाषा को 'राजस्थानी' नाम दिया। ग्रियर्सन के सामने भी संभवतः टॉड की पुस्तक ही आधार था। जार्ज ग्रियर्सन ने मालवा की कई बोलियों की विगत लिखी और उनको राजस्थानी की बोलियां ही माना।

भाषा भूगोल की दृष्टि से राजस्थान के पूर्व में (उत्तर-दक्षिण तक) ब्रजभाषा, दक्षिण में (पूर्व से पश्चिम तक) बुन्देली, मराठी, भीली, खानदेशी और गुजराती, पश्चिम में (दक्षिण से उत्तर तक) सिंधी, लहंदा और उत्तर में (पश्चिम से पूर्व तक) लहंदा, पंजाबी और बांगरू है। विंध्याचल और आबूपर्वत के बीच के पर्वतों में 'भीली' बोली जाती है।

राजस्थान प्रदेश का नाम तथा, उसकी हदबंदी अंग्रेजों ने कुछ तो अपने राजकाज की सुविधा और कुछ राजनीतिक कारणों को सामने रख कर की। इसी कारण से उन्होंने मालवा को राजस्थान से अलग कर दिया। परन्तु लोक के संस्कारों, रहन-सहन, बोलचाल, वेश-भूषा आदि की दृष्टि से वह राजस्थान का स्वाभाविक अंश है। उसमें बोली जाने वाली भाषा मालवी, राजस्थानी की ही एक शाखा है। राजस्थान और मालवा राजकाज की दृष्टि से अलग होते हुए भी बाकी सब भांति से एक है। मध्यप्रदेश के सात जिले—जैसे मदसोर, रतलाम, राजगढ़, उज्जैन, देवास, इन्दौर

आदि को मध्यप्रदेश सरकार आज भी मालवी-भाषी जिले मानती है। ऐसे ही हरियाणा के नौ जिले-जैसे रोहतक, सोनीपत, हिसार, सिरसा, गुड़गांव, जींद, महेन्द्रगढ, नारनोल आदि की भाषा बांगडू बोली राजस्थानी भाषा का ही एक रूप है। राजस्थानी भाषी हरियाणा और राजस्थान के दो अलग-अलग राज्य बनाए गए हैं। इस तरह यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि राजस्थानी भाषा का विस्तार कई दूसरे प्रदेशों तक भी है। परन्तु भौगोलिक दृष्टि से राजस्थानी के विराट विस्तार को विखण्डित कर दिया गया। राजनैतिक व्यवस्था और व्यवस्था के स्वरूप ने इस भाषा के विस्तार-क्षेत्र को कुंठित कर दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राजनैतिक तौर पर मनचाहे ढंग से इसे हिन्दी की उपभाषा मानकर इसके विकास को बहुत बड़ी क्षति पहुँचाई गई जो आज भी पूरी नहीं हो पा रही है।

आज के राजस्थान में सत्ताईस जिले है जो बाईस छोटी-बडी रियासतों की साक्षी देते है। सर्वप्रथम, अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली रियासतों को मिलाकर 'मत्स्य' संघ 28 फरवरी, 1948 में बना। फिर 25 मार्च, 1948 में उसमें बांसवाड़ा, बूंदी, डूंगरपुर, झालावाड, कोटा, किसनगढ, कुशलगढ़, लावा, प्रतापगढ़, शाहपुरा और टोंक रियासतें शामिल हुई। 1 अप्रैल, 1948 में उदयपुर मिला। 30 मार्च, 1949 में जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर रियासतें संघ में मिली। 15 मई, 1949 मे मत्स्य संघ और 7 फरवरी, 1950 में सिरोही रियासत इसमें मिली। सबसे अन्त में 1 नवम्बर, 1956 को अजमेर जो सीधा अंग्रेजों द्वारा शासित था, आबू जो बम्बई रियासत का हिस्सा था और सुनेल जो मध्य-भारत के मंदसौर जिले को भानपुरा तहसील में था, वे सब इस संघ में मिले। इस तरह आज के राजस्थान का स्वरूप सामने आया। अरावली पर्वत शृंखलायें राजस्थान को दो प्राकृतिक भागों में बांटती हैं —उत्तरी-पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान। राजस्थानी समस्त राजस्थान की अपनी भाषा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी की इस बहिन या कहीं किसी तरह का विरोध नहीं है। अन्तर इतना ही है कि राजस्थानी राजस्थान की धरती के वासियों की मातृभाषा है और हिन्दी समस्त राष्ट्र की राष्ट्र भाषा। मातृभाषा से राष्ट्रभाषा का हमेशा मान बढा है, परन्तु राजस्थान मे बाहर से आए शिक्षित लोगों ने जो कि इस धरती की प्रकृति और भाव से अनजान थे, हिन्दी को मातृभाष बतलाना और पढाना शुरू कर दिया। बिना इस अन्तर को जाने या जानते हुए भी सरकारी सर्वेक्षणों में मातृभाषा के हाशिये में हिन्दी को भर शुरू से ही राजस्थानवासियों को भ्रमित करना शुरू कर दिया। बाल-मानस पर धरी यह छाप राजस्थानी भाषा की महत्ता को राजस्थान की नई पीढी को निरन्तर न समझने के लिए तैयार कर दिया। इसके फलस्वरूप राजस्थानी भाषा की गति और

विकास को भारी धक्का पहुँचा। आज इस गलती को सुधारने में राजस्थान-वासियों को आन्दोलनों का सहारा लेना पड़ रहा है ताकि राजस्थानवासी अपनी भाषा की सम्पन्नता और महत्ता को समझें। इन सब प्रयासों का ही परिणाम है कि राजस्थानी विश्वविद्यालय स्तर तक पढ़ाई जाने लगी है। इसे पाठ्यक्रमों में स्थान मिला है। सबसे बड़ी उपलब्धि इन प्रयत्नों की यह रही है कि राष्ट्रीय स्तर पर राजस्थानी को साहित्यिक भाषा का दर्जा प्राप्त हुआ, और देश की 22 साहित्यिक भाषाओं में राजस्थानी को सम्मान-जनक स्थान मिला है।

देश में ही नहीं विदेशों में भी राजस्थानी भाषा पढ़ाई जाती है। अमेरिका की शिकागो यूनिवर्सिटी में राजस्थानी का एक स्वतन्त्र विभाग है। दुनियाँ के अन्य कई देशों में भी राजस्थानी पढ़ाई जा रही है।

पुरातत्व विभाग प्राचीन शिलालेखों, जूनी पाण्डुलिपियों में रचे-बसे भारतीय इतिहास की समुचित जानकारी के लिए राजस्थानी भाषा की अनिवार्यता को स्वीकार करता है। इतिहासविदों एवं शोध विद्वानों ने इसी वजह से राजस्थानी की महत्ता को समझा है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान राजस्थानी सीखने में लगे हैं। भारतवासी राजस्थान और राजस्थानी के गौरवपूर्ण इतिहास से सुपरिचित है। इन्हीं सब बातों को राजनीतिक स्तर पर भी एक दिन समझा जावेगा और राजस्थानी को संवैधानिक मान्यता प्राप्त होगी।

भाषा विकास और उपभाषाएं

राजस्थान बहुत ही अनोखा प्रदेश है। समस्त विश्व में यह वीरता का पर्याय माना जाता है। सदियों तक यह भारतीय संस्कृति, शौर्य, साहित्य और कला का केन्द्र बना रहा। विद्वानों का मानना है कि ऋगवेद जैसे प्राचीन ग्रंथ की रचना भी इसी प्रदेश में बहने वाली सरस्वती नदी के तट पर हुई थी। ऋगवेद में प्रयुक्त अनेक प्राचीन शब्दों के मूल रूप को सुरक्षित रखने का श्रेय राजस्थानी भाषा को प्राप्त है।

राजस्थान अपने धर्म, मान-मर्यादा और देश गौरव पर मर मिट जाने वालों की जन्मभूमि है। अनगिनत नर नारियों के लहू से सींची यह धरती प्रयाग-राज की तरह पवित्र है। कर्नल टॉड का मानना है कि राजस्थान का कोई छोटा सा राज्य भी ऐसा नहीं है जिसमें 'थर्मोपोली' जैसी रणभूमि न हो और न कोई ऐसा नगर है जहां 'लियोनिडास' जैसा वीर पुरुष नहीं जन्मा हो। जितना महान यह प्रदेश है उतनी ही इसकी ख्याति है। उतना ही मान-परिमाण में समृद्ध और उच्च कोटि का इसका साहित्य है। यह साहित्य राजस्थानी भाषा में है जो कि स्मृत की पीढ़ी में जन्मी और पली है।

भाषा शास्त्रियों का मानना है कि अपने पूर्व पुरुष प्राचीन आर्य जो भाषा बोलते, उसके एक रूप से वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई। इसी वैदिक संस्कृत का परिवर्तित साहित्यिक रूप 'संस्कृत' कहलाया और जनसाधारण की बोलचाल की भाषा 'प्राकृत' नाम से प्रसिद्ध हुई। कालक्रम की दृष्टि से इन प्राकृत भाषाओं को विद्वान लोग दो भागों में बांटते है। पहली प्राकृत भाषाएं और दूसरी प्राकृत भाषाएं। पहली प्राकृत भाषाओं का प्रतिनिधित्व पाली और अर्द्ध-मागधी ने किया जिनमें बौद्ध और जैनियों के ग्रंथ लिखे गए, दूसरी प्राकृत भाषाओं में शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री मुख्य हैं। धीरे-धीरे इन प्राकृत भाषाओं के भी साहित्य-संस्कार बनने लगे और ये भी प्रतिष्ठित भाषाएं बन गई। जन साधारण की भाषा का जो प्रवाह इनके साथ-साथ अबाध रूप से चल रहा था वह दिनों दिन बढता गया और कालान्तर में एक नई भाषा के रूप में ढल कर 'अपभ्रंश' नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रम सवत् की छठी-सातवी शताब्दी से लेकर दसवी-ग्यारहवी शताब्दी तक इन 'अपभ्रंश' भाषाओं का देश के अलग-अलग भागो में प्रचार प्रसार रहा परन्तु कालान्तर में इनके साथ भी वही बात हुई जो प्राकृत भाषाओं के साथ हुई। यानि इनके अन्दर भी साहित्य रचना होने लगी और विद्वान लोगों ने इनको भी व्याकरण के अस्वाभाविक नियमों में बांधना शुरू कर दिया जिससे इनके दो रूप हो गए। एक तो वह जिसके अन्दर साहित्य रचना होती थी और दूसरा वह जिसका कि लोगों में प्रचार था। पहला रूप तो व्याकरण के नियमों में बंध कर स्थिर हो गया परन्तु दूसरा रूप निरन्तर विकसित होता रहा और उसी तरह जिस तरह पहले प्राकृत भाषाएं अपभ्रंश भाषाओं में परिवर्तित हुई उसी तरह अपभ्रंश भी आधुनिक आर्य भाषाओं में रूपान्तरित हुई। अपभ्रंश के सत्ताइस भेद-उपभेद है, इनमें से शौरसैनी अपभ्रंश के प्रचार का दायरा बहुत व्यापक रहा। यह भाषा राजस्थान के बहुत से भागो में बोली जाती थी। इसके दो रूप थे—'पश्चिमी अपभ्रंश' और 'पूर्वी अपभ्रंश'। इन्ही दो रूपो मे राजस्थानी का विकास हुआ। इस तरह से वैदिक संस्कृत से संस्कृत, संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश, अपभ्रंश से शौरसेनी और शौरसेनी में पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश और इन्ही से राजस्थानी का विकास भाषा यात्रा का उज्ज्वल स्वरूप है।

राजस्थानी का जन्म कब हुआ, यह ठीक-ठीक कहना तो मुश्किल है। परन्तु अनुमान है कि ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपभ्रंश से अलग होकर राजस्थानी भाषा के रूप में विकसित होना शुरू कर दिया होगा।

राजस्थानी शौरसेनी अपभ्रंश की पहली सन्तान है। इसकी बेटियां ब्रजभाषा, गुजराती और आधुनिक राजस्थानी नाम धारण कर स्वतन्त्र भाषाएं बनी। राजस्थानी भाषा को पश्चिमी हिन्दी से अलग कर एक अलग भाषा का रूप देने का यश 'भारत का भाषा सर्वेक्षण' नामक ग्रंथ के लेखक सर जार्ज ग्रियर्सन को है।

शौरसेनी अपभ्रंश के बारे में जानकारी मुख्य रूप से हेमचन्द्र की प्राकृत व्याकरण (4/329–446) के सूत्रों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। हेमचन्द्र 12वीं ईस्वी (स. 1144–1228) में हुए थे। उन्होंने जिस अपभ्रंश की जानकारी दी वह उनके पहले की है। इसलिए इस प्रमाण के आधार पर हेमचन्द्र वर्णित शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा 10–11वीं शताब्दी निर्धारित की जा सकती है। आधुनिक भाषाओं को अपभ्रंश से अलग करने वाली कुछ विशेषताएं निम्न प्रकार हैं—

1 'प्राकृत' और अपभ्रंश के तद्भव शब्दों की जगह संस्कृत तत्सम् शब्दों का प्रयोग।

2 संस्कृत के तत्सम् शब्दों से सीधे नये तद्भव शब्दों का निर्माण, जैसे–प्राचीन तद्भव 'कज्ज-काज' के साथ नया तद्भव 'कारज'।

3 अपभ्रंश के द्वित (दुहरा) व्यंजनों का सरलीकरण और पूर्व स्वर का (ह्रस्व हो तो) दीर्घीकरण (दोहरा व्यंजन, व्यंजन इकहरा हो जाता है और मात्रा पूरी करने के लिए पूर्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है)। जैसे अपभ्रंश 'कम्म' का राजस्थानी, हिन्दी आदि में काम।

4. अपभ्रंश में अनुस्वार की जगह आनुनासिक का प्रयोग और पूरी मात्रा करने के लिए पूर्व स्वर का दीर्घीकरण, जैसे 'पंच' का 'पाँच'।

5 विभक्ति प्रत्ययों का घिस जाना और उनकी जगह दोनों वचनों में समान पर-सर्गों का (नउ, रउ, सउ, मउ आदि) प्रयोग।

6 संयुक्त क्रियाओं और संयुक्त कालों (Tenses) का विकास।

7. वर्तमान काल में सहायक क्रिया का प्रयोग। जैसे अप. 'जाई-जवई' के स्थान पर राजस्थानी में 'जावै है', गुजराती में 'जाय छे', बंगला में 'जाइते छे'।

8. प्रवर्धमान विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति।

प्रो. नरोत्तम स्वामी ने इन विशेषताओं को सम्वत् 1200 के आस-पास की रचनाओं में देखा है।

मारु–गुर्जर : राजस्थानी विभाजन

गुर्जर अपभ्रंश–धारा देश के पश्चिमी भागों में वर्तमान राजस्थान और गुजरात प्रदेशों में बहती रही है। 11वीं शताब्दी के दौरान राजस्थानी एक निश्चित भाषा के सांचे में ढली। प्रारम्भिक राजस्थानी और गुजराती 1450 ई. तक प्रायः एक तरह ही चली। विभाजन इसके बाद शुरु होता है। इस सामान्य भाषा के कई नाम जैसे–'मारु–सोरठ', 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी', 'प्राचीन गुजराती', 'प्राचीन राजस्थानी' और 'मारु–गुर्जर' दिए गए। इनमें से अन्तिम नाम मारु–गुर्जर उचित नाम जान पड़ता है। मारु प्रदेश राजस्थान का द्योतक है और गुर्जर

गुजरात प्रांत का। इस तरह प्रारम्भ काल का साहित्य इन दोनों भाषाओं की सम्मिलित सम्पत्ति है। प्राचीन राजस्थानी साहित्य के काल में गुजराती और राजस्थानी एक ही भाषा थी। 15वी सदी के प्रथम अर्द्ध भाग में ये दोनों भाषाएं स्वतन्त्र रूप से विकासमान हुई। परिणामस्वरूप आधुनिक राजस्थानी का प्रादुर्भाव हुआ और उधर आधुनिक गुजराती का। आधुनिक राजस्थानी को प्राचीन राजस्थानी से अलग करने वाली विशेषताएं निम्नलिखित है—

1. दो नये स्वरों का विकास–'अँ' और 'ऑ'। ये संस्कृत के संयुक्त शब्द अ+ई और अ+उ से अलग है।
2. नपुंसक लिंग या तो छोड दिया गया है या फिर पुल्लिग में मिल गया है। नान्यान्तर जाति के कुछ रूप तो बने रहे परन्तु उनमें और नर जाति में कोई अन्तर नही रहा।
3. अन्त में आने वाले 'अ' का मिटना। उच्चारण में 'आ', 'ई' और 'उ' का शब्द में आना।
4. 'अ+इ' और 'अ+उ' की जगह'अँ' और 'ऑ' का प्रयोग। 'अ+इ' और 'अ+उ' का प्रयोग प्राचीन राजस्थानी की सामान्य प्रवृत्ति रही है। 15वी शताब्दी के प्रारम्भ में 'अँ' और 'ऑ' का प्रयोग विकसित होने लग जाता है।
5. शब्दों के अन्त में 'इ', 'उ' और 'अ' के उच्चारण का लोप (यद्यपि लिखने में इनकी जगह 'अ' लिखा जाता है) जैसे—'करि' का 'कर', 'गति' का 'गत' और 'मति' का 'मत'।

सुप्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने राजस्थानी के कुछ विशेष लक्षण गिनाए हैं। इनमें से मुख्य निम्नलिखित है–

उच्चारण सम्बन्धी

1. 'अ' का उच्चारण 'इ'। जैसे 'मनुष्य' का मिनख, 'सरदार' का 'सिरदार' 'पंडित' का पिडत आदि।
2. इसके विपरीत, 'इ' तथा 'उ' की जगह 'अ' का उच्चारण। जैसे, 'दिन' का 'दन', 'किनार' का 'कनार' 'मानुष' का 'माणस', 'हाजिर' का 'हाजर', 'कुमार' का 'कंवर', 'रुपया' का 'रप्या', 'मिलाप' का 'मलाप' आदि।
3. 'ऐ' तथा 'औ', खास करके प्राकृतज (तद्भवज) शब्दों मे, यथाक्रम अंग्रेजी **hat** और **hot** के **a** और **o** के सदृश उच्चारित होते है। जैसे जैण, कौण आदि। पुरानी राजस्थानी और उसके पूर्व की अपभ्रंश भाषा के अइ, अउ से, तथा संस्कृत (तत्सम) शब्द के ऐ, औ से, ये विवृत, 'अँ' तथा 'ऑ' राजस्थानी में आए है।

4. मूर्धन्य 'ण' और 'ळ' राजस्थानी की दो विशिष्ट ध्वनियाँ है। मूर्धन्य 'ड' और 'ड' ध्वनियो की तरफ राजस्थानी का विशेष आकर्षण है।
5. कई राजस्थानी बोलियों मे 'च, छ, ज, झ' इन तालव्य ध्वनियो का दन्त्य उच्चारण सुनाई देता है, साथ ही इन बोलियो मे 'स' का उच्चारण 'ह', हो जाता है।
6. राजस्थानी वर्गों के महाप्राण अघोष वर्णो का अर्थात् "घ, झ, ढ, ध, भ" का, विशेष उच्चारण तथा मौलिक 'ह्' का विकृत उच्चारण मिलता है।
7 अघोष महाप्राण स्पृष्ट ध्वनियाँ—"ख, छ, ठ, थ, फ" बदलती नही है। जैसे खेत, मुख छै, आछो ठाकर, पीठ, थळ, रथ, फळ, सफा।
8. घोष महाप्राण "घ, झ, ढ, ध, भ" शब्द के आदि में रहने से वे कंठ-नालीय स्पर्श से मिलित हो जाते है। जैसे, घोडा, झूठ, ढाई, धन, भलो के क्रमश गो' डा, जू' ठ, डा' ई, द' न, ब' लो।
9. घोष महाप्राण, शब्द के मध्य अथवा अन्त मे रहने से उनका असर शब्द के आद्य अक्षर पर पडता है। जैसे जोध का 'जो' द', बाघ का 'बा' ग', पढणो का 'प' 'डणो' साँझ का 'साँ' 'ज', लाभ का 'ला' ब'।
10. बहुत सी जगह देखा जाता है कि 'ह' लिखा तो नही जाता परन्तु उच्चारण में 'ह' का अवस्थान सूचित होता है। जैसे—कयो—कह्यो, बार—बाहर।

व्याकरण सम्बन्धी

1. पुँल्लिग विशेष्यो में संस्कृत अ—कारान्त विशेष्य की प्रथमा विभक्ति के प्रत्यय को अपरिवर्तित रूप मे जीवित रखा है, जैसे घोटक>घोड़ओ> घोडउ>घोडौ >घोडो।
2. नाम के रूप मे प्रयुक्त रूप—प्रत्ययों मे षष्ठी के 'रो', 'रा', 'री', प्रत्यय लगते है। षष्ठी के लिए पुरानी राजस्थानी प्रत्यय 'तणो', 'हंदो' प्रत्यय भी विचार करने योग्य है।
3. उत्तम तथा मध्यम पुरुष के सर्वनामो की षष्ठी के एक—वचन में "मारो या म्हारो-थारो" रूप गुजराती—राजस्थानी की विशिष्टता है।
4. उत्तम पुरुष के बहुवचन में दो रूप—'म्हे'—जिसमे सुनने वाला अलग और 'आपा'—जिसमे सुनने वाला भी शामिल है।
5. निकट तथा दूर वाचक प्रथम पुरुष के सर्वनाम 'ओ, यो' और 'वो' के स्त्री रूप 'आ, या' तथा "वा"।
6. भाभिव्य ध्वनि का आगम,—"ई, इण, इणी, ऊं, उण, उणी।"

7. राजस्थानी म संख्यावाचक शब्दों में अन्त्य "ह"--कार का उच्चारण सम्भवतः नही है । जैसे, ग्यारह—ग्यारा, बारह—बारा, तेरह--तेरा आदि ।

वाक्य रीति

1. उक्ति-वाचक क्रियाओं का अन्वय हिन्दी में तृतीया या पचमी से होता है, राजस्थानी में चतुर्थी से

2. सकर्मक क्रिया के भूतकाल में जो भावे-प्रयोग होती है, हिन्दी की रीति के अनुसार, 'को' लगाकर जब कर्म को सम्प्रदान बना दिया जाता है, तब क्रिया-पद कर्तृ-निरपेक्ष तथा कर्म-निरपेक्ष रहता है । वह पुल्लिग का ही रूप लेता है । जैसे--'उसने स्त्री को मारा' । परन्तु गुजराती में क्रिया उसी अवस्था में कर्म-सापेक्ष रहती है, कर्म अगर स्त्रीलिंग का होता है तो क्रिया में भी स्त्री प्रत्यय लगाया जाता हैं; जैसे—"तेने स्त्री-ने मारी"-पुल्लिग का "मारो" या नपुंसक का "मारू" नही । राजस्थानी मे ये दोनों रीतियाँ चालू है--संभव हैं कि गुजराती में संरक्षित यह रीति किसी समय की पुरानी राजस्थानी की जैसी ही है ।

3. नमर्यक अव्यय का स्थान राजस्थानी में कभी क्रिया के पहले, कभी पश्चात् होता है ।

राजस्थानी में तथा इसके पूर्वरूप पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में एक प्रौढ साहित्य विद्यमान हैं । अतः इसकी वाक्य रीति सुनियन्त्रित होनी ही स्वाभाविक है ।

शब्द विषयक

राजस्थानी में स्वार्थे 'ड़' प्रत्यय का कुछ आधिक्य है । यह 'ड़' प्रियता अपभ्रंश की ही देन है । कुछ शब्दों के अन्त में एक 'क' या 'स' आता है, जैसे 'कतरो' या 'कतरोक'--कितने; वहाँ (खां) गयो' या 'गयोस'--कहाँ गया ?

जिवणो (दाहिना), सारू (जन्य), डावड़ो (पुत्र), धीवड़ी (बेटी) मगरी (पहाड़ी), डूंगर (पहाड़), लुगाई (नारी), गंडक (कुत्ता), टाबर (बालक) ऐसे हजारों शब्द है जो खास करके राजस्थानी के है ।

राजस्थानी की उपभाषाएं या बोलियां

भारतीय भाषा के तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विवेचन के सम्बन्ध में सबसे पहला ग्रंथ जॉन बीमज् (John Beames) ने लिखकर तीन खंडों मे सन् 1872, 1875 और 1879 में प्रकाशित किया था; उसमें राजस्थानी का विचार नही हुआ और भूल से इसे हिन्दी के अन्तर्गत समझ लिया गया । इसके तीस-चालीस वर्ष बाद कर्नल जेम्स टॉड ने राजस्थानी का अच्छा परिचय प्राप्त

किया, परन्तु उन्होंने राजस्थानी भाषा पर कुछ नहीं लिखा। बीमज के बाद रामकृष्ण गोपाल भंडारकर और रुडोल्फ ह्योर्नले (Rudolf Hoernle) ने भारतीय भाषाओं के इतिहास विषयक ग्रंथ लिखे परन्तु उनमें भी उन्होंने राजस्थानी की विशेष चर्चा नहीं की। के लॉग (Kellogg) ने अपने हिन्दी व्याकरण में राजस्थानी बोलियों में से मारवाड़ी और मेवाड़ी और कहीं-कहीं जयपुरी का कुछ विचार किया। राजस्थानी बोलियों का प्रथम वर्णनात्मक दिग्दर्शन सन् 1907 और 1908 में सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने आधुनिक-भारतीय भाषा-विषयक विश्वकोष में किया। डॉ. ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' की नौवीं जिल्द के दूसरे भाग में राजस्थानी की पाँच उपभाषाएँ बताईं—पश्चिमी, मध्यपूर्वी, उत्तरी-पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी के दो भेद। इनके भी उपभेद डॉ. ग्रियर्सन ने बताए। इनकी खोज से राजस्थानी बोलियों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा संयोग के विषय में कुछ स्पष्ट रूपरेखा सामने आई। 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी' (गुजराती और मारवाड़ी का पूर्वरूप) के ऐतिहासिक विश्लेषण के आधार पर सन् 1914 से 1916 तक मूल्यवान गवेषणा सम्पूर्ण की। उसमें राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ा।

'राजस्थानी' नाम से ग्रियर्सन ने भौगोलिक संयोग और कुछ स्थूल विशिष्टताओं के कारण, जिन बोलियों को एकत्र गूंथ दिया, वे सचमुच दो पृथक शाखाएँ थीं। एक पूर्व की शाखा, जो पछांही हिन्दी से (ब्रजभाषा आदि से) ज्यादा सम्बन्ध रखती है, और दूसरी पश्चिम की शाखा, जिसका गुजराती से मौलिक संयोग है।

ग्रियर्सन द्वारा बताई गई पाँच उपभाषाओं में सबसे महत्वपूर्ण पश्चिमी उपभाषा है, जिसे साधारणतया 'मारवाड़ी' कहा जाता है। यह अपने अलग-अलग रूपों में मारवाड़, मेवाड़, पूर्वी सिंध, जैसलमेर, बीकानेर, दक्षिण पंजाब और पुरानी जयपुर स्टेट के उत्तरी-पश्चिमी हिस्से के शेखावाटी क्षेत्र में बोली जाती है। बाकी सभी उपभाषाओं के क्षेत्रफलों का योग करने पर भी अकेली मारवाड़ी का क्षेत्रफल उन सबसे अधिक है।

दूसरी, मध्य-पूर्वी उपभाषा दो मुख्य नामों से जानी जाती है—जयपुरी और हाड़ौती। इनके भी कई भेद है। जयपुरी बोली को इनका आदर्श माना जा सकता है। यद्यपि जयपुरी पूर्वी राजस्थान में बोली जाती है परन्तु फिर भी इसका गुजराती से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। मारवाड़ी में इसका पश्चिम स्थित सिंधी से अधिक सम्बन्ध है।

उत्तर-पूर्वी राजस्थानी में अलवर, भरतपुर और गुड़गांव की मेवाती तथा दिल्ली के दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम के अहीर प्रदेश की 'अहीरवाटी' शामिल

है। राजस्थानी के इस रूप में मध्य समूह (Central Group) की शुद्धतम प्रतिनिधि पश्चिमी हिन्दी से अधिक साम्य है। कुछ लोगों की तो यहां तक मान्यता है कि उत्तर-पूर्वी राजस्थानी कहलाने वाली उपभाषाएं राजस्थानी की उपभाषाएं न होकर हिन्दी की उपभाषाएं कहने योग्य हैं। वास्तविकता यह है कि यह इन दोनों के बीच का एक समूह है। इसका विवेचन विशेष अहमियत नहीं रखता, फिर भी इसे राजस्थानी में रखना उचित है।

दक्षिणी-पूर्वी राजस्थानी की मुख्य उपभाषा 'मालवी' है। यह मालवा एवं उसके आसपास के प्रदेशों में बोली जाती है। इसके पूर्व में बुन्देली और पश्चिम में गुजराती है। असलियत में यह इन दोनों के बीच की बोली है। इसीलिए इस पर राजस्थानी की छाप उतनी नहीं दिखाई पड़ती जितनी कि जयपुरी पर दिखाई पड़ती है। दक्षिणी पूर्वी राजस्थानी की दूसरी बोली 'नीमाड़ी' है। उद्गम की दृष्टि से यह मालवी का ही एक रूप है। परन्तु यह एक ऐसे पर्वतीय प्रदेश की कई जातियों के मुंह से बोली जाती है जो कि मालवी के बाकी हिस्से से अलग-सा पड़ता है। नीमाड़ी पर पड़ोस की 'भीली' और 'खान देशी' का यहां तक असर पड़ा है कि वह एक अलग बोली बन जाती है। जिसकी अपनी निजी विशेषताएं हैं। डॉ० ग्रियर्सन का वर्गीकरण निम्नलिखित है—

(1) पश्चिमी राजस्थानी—जोधपुर की खड़ी राजस्थानी ढटकी, थळी, बीकानेरी, बागड़ी, शेखावाटी, मेवाड़ी, खैराड़ी, सिरोही की बोलियां, गोड़वाड़ी और देवड़ावाटी।

(2) उत्तरी-पूर्वी राजस्थानी—अहीरवाटी और मेवाती।

(3) मध्य-पूर्वी राजस्थानी (ढूंढाड़ी)-तोरावाटी, खड़ी जयपुरी, काठेड़ा, राजावाटी, अजमेरी, किसनगढ़ी, चौरासी, नागरचाल, हाड़ौती।

(4) दक्षिणी-पूर्वी राजस्थानी या मालवी—इसके कई रूप भेद हैं। जिनमें रांगड़ी और सोंडवाड़ी प्रमुख हैं।

(5) दक्षिणी राजस्थानी—नीमाड़ी।

डॉ. ग्रियर्सन ने 'भीली' और 'खानदेशी' को राजस्थानी से अलग माना है परन्तु डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने व्याकरण की दृष्टि से भीली को राजस्थानी के अधीन रखना उचित माना है। 'भीली' बोलियों का गुजराती से काफी सादृश्य है, और 'खानदेशी' बोलियां राजस्थानी अथवा गुजराती और मराठी इन दोनों के मिश्रण से उत्पन्न हुई है। संभव है कि ये प्राचीन मराठी के ऊपर राजस्थानी के गहरे प्रभाव का फल हो। यह प्रभाव दक्षिण में कोंकणी भाषा तक पहुंचा है—कोंकणी में ऐसी कुछ विशेषताएं हैं जो राजस्थानी से मिलती हैं मराठी से नहीं। इस तरह राजस्थानी भाषा ने दक्षिण में कोंकणी तक को प्रभावित किया है। इसके

अलावा पंजाब, उत्तर–पश्चिमी सीमान्त प्रान्त, कश्मीर की गुजरी बोली और तमिलनाडु की सौराष्ट्री भी राजस्थानी के अन्तर्गत आती है।

डॉ. ग्रियर्सन द्वारा स्वीकृत इस वर्गीकरण को एल. पी. तेस्सितोरी ने ऐतिहासिक विचार एवं वैयाकरण दृष्टि से कुछ रद्दोबदल किया है। उनके अनुसार राजस्थान-मालवे की बोलियों को दो ही मुख्य भागों में विभाजित किया जाना चाहिए। ग्रियर्सन की पश्चिमी राजस्थानी और मध्य-पूर्वी राजस्थानी (ढूंढाडी) को एक साथ एक वर्ग में लेकर केवल उन्हें ही 'राजस्थानी' नाम देना ठीक होगा। तेस्सितोरी कहते है कि ग्रियर्सन को (1) को पश्चिमी राजस्थानी कहना चाहिए और (2) को "पूर्वी राजस्थानी"। बाकी श्रेणियों की भाषाओं को या बोलियों को कितनी दूर तक हम 'राजस्थानी' में शामिल कर सकते हैं, यह विचारणीय विषय है। अहीरवाटी, मेवाती, मालवी और नीमाड़ी—ये पश्चांही हिन्दी से ज्यादा प्रभावित है या खास राजस्थानी से, इस विषय में निष्कर्षात्मक ढंग से कुछ नहीं कहा जा सकता। राजस्थान की बोलियों पर मध्य प्रदेश की बोली का गहरा प्रभाव बहुत प्राचीनकाल से पड़ता आया है।

प्रो. नरोत्तम स्वामी राजस्थानी की निम्नलिखित मात्र चार बोलियाँ ही मानते है—

1. पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी—उदयपुर, जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर और शेखावाटी क्षेत्र
2. पूर्वी राजस्थानी या ढूंढाडी—जयपुर और हाडोती इलाका
3. उत्तरी राजस्थानी—मेवाती और अहीरी बोलियाँ।
4. दक्षिणी राजस्थानी या मालवी—मालवा और नीमाड़ की बोलियाँ।

डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थानी की पाँच बोलियों का जिकर किया है। जिनमें परस्पर विशेष अन्तर नहीं है। मात्र अलग-अलग क्षेत्रों में बोली जाने की वजह से इनके अलग-अलग नाम पड गए है। ये पाँच बोलियाँ—मारवाडी, ढूंढाडी, मालवी, मेवाती और बागडी है। डॉ. मेनारिया ने बागड क्षेत्र डूंगरपुर—बांसवाडा के आस-पास की बोली को अलग से एक बोली मानकर अपने वर्गीकरण में शामिल किया है। वागडी राजस्थानी की बोली है। सारुप में राजस्थानी की उपभाषाएं या बोलियाँ निम्नलिखित है—

मारवाड़ी—मारवाड़ी का प्राचीन नाम 'मरुभाषा' है। आठवीं सदी के ग्रंथ 'कुवलयमाला' में भारत की 18 देश-भाषाओं में मरुदेश की भाषा का भी उल्लेख है। अबुल-फ़ज़ल ने अपनी पुस्तक 'आइने-अकबरी' में भारत की प्रमुख भाषाओं में मारवाड़ी को भी गिनाया है। विस्तार और साहित्य-दोनों दृष्टियों से मारवाडी राजस्थानी की सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपभाषा है। मारवाडी सदा

से राजस्थानी की साहित्यिक भाषा रही है। यह जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर और सिरोही मे प्रचलित रही है। यही नहीं अजमेर-मेरवाड़ा, किशनगढ़ और पालनपुर के कुछ भागों मे, जयपुर के शेखावाटी इलाके मे, सिंधु प्रांत के थोड़े अंश और पंजाब के दक्षिण मे भी यह उपभाषा वोली जाती है। साहित्यिक मारवाडी का शुद्ध रूप जोधपुर और उसके आस-पास के भागों एवं शेखावाटी क्षेत्र में देखने को मिलता है। यह एक ओज-गुण विशिष्ट भाषा है। इसका साहित्य भी काफी बढ़ा-चढा है। इसमे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द विशेष रूप से मिलते है। कुछ अरबी-फारसी के शब्द भी इसमे आत्मसात् हो गए हैं। मारवाड़ी की अपनी कई निजी विशेषताएँ हैं। जैसे छंदो में सोरठा और रागों मे मांड जितनी अच्छी इस भाषा में रुचती-खिलती है, भारत की किसी अन्य भाषा में नही रुचति-खिलती।

मेवाड़ी—मेवाडी दक्षिणी-पूर्वी मेवाड के भाग को छोडकर समस्त मेवाड और उसके आस-पास के कुछ क्षेत्रों मे बोली जाती है। मेवाडी का शुद्ध रूप मेवाड के गाँवों मे देखने को मिलता है। शहरों में इस पर हिन्दी, उर्दू का असर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसी वजह से इसका मिठास जाता रहा है और यह अटपटी सी लगने लगी है। मेवाडी में रचित साहित्य मिलता है। इसकी साहित्यिक परम्परा भी प्राचीन दिखाई पडती है। चितोड के 'कीर्ति-स्तम्भ' की प्रशस्ति मे लिखा है कि महाराणा कुम्भा (स. 1490–1525) ने चार नाटक लिखे, जिनमे मेवाडी का भी प्रयोग किया गया। मेवाडी मे नाटक लिखने का यह सबसे पहला ऐतिहासिक उल्लेख है।

ढूंढाड़ी—भूतपूर्व जयपुर रियासत के शेखावाटी क्षेत्र को छोडकर समस्त जयपुर रियासत क्षेत्र मे ढूंढाडी बोली जाती है। इस पर गुजराती और मारवाडी का प्रभाव समान रूप से मिलता है। साहित्यिक भाषा मे ब्रजभाषा की भी कुछ विशेषताएँ देखने को मिलती है। ढूंढाडी में प्रचुर साहित्य रचा गया है। संत दादू और उनके शिष्यों-प्रशिष्यों की रचनाओं में इस भाषा की झलक है। ढूंढाडी मे गद्य और पद्य दोनों लिखे गए है। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने बाइबिल आदि अपने धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद ढूंढाडी मे करके इस भाषा की बढ़ोतरी की है।

हाड़ौती—ढूंढाड़ी का जो रूप कोटा-बूंदी मे प्रचलित है, वह हाड़ौती नाम से जाना जाता है, पड़ोस के झालावाड़ और छबड़ा क्षेत्रों मे भी हाड़ौती बोली जाती है। इसमें और ढूंढाड़ी मे थोड़ा ही अन्तर है। परन्तु आज हाड़ौती राजस्थानी की स्वतन्त्र उपभाषा बन सामने आई है। ढूंढाड़ी और हाड़ौती में शब्दों की उच्चारण-शैली में थोडी भिन्नता है। हाड़ौती में कई ऐसे शब्द देखने को मिलते है जिनका सम्बन्ध किसी आर्य या सेमेटिक भाषा से स्थिर नहीं होता। उच्चारण-

शैली में भी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो न तो संस्कृत और न ही अरबी-फारसी में मिलता है। इस इलाके पर हाडा राजपूतों का आधिपत्य रहा है। इसी वजह से इस उपभाषा का नाम हाड़ौती पड़ा है। डॉ. कन्हैयालाल शर्मा ने हाड़ौती भाषा और साहित्य पर विशिष्ट कार्य कर इसकी भाषागत् एवं साहित्यिक महत्ता को उजागर किया है।

मेवाती—मेवाती अलवर-भरतपुर के उत्तरी-पश्चिमी भाग और दिल्ली के दक्षिण में गुड़गांव में बोली जाती है। इस भाषा के उत्तर में बांगड़, पश्चिम में मारवाड़ी और ढूंढाड़ी, दक्षिण में डांगी और पूर्व में ब्रजभाषा का प्रचार है। इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव बहुत अधिक देखने को मिलता है। इसमे ज्यादा साहित्य नही है। चरणदासी पंथ के जन्मदाता चरणदास और उनकी दो शिष्याएँ दयाबाई और सहजोबाई की रचनाएँ इसी भाषा में रची गई है परन्तु इस वक्त का साहित्य अब अपने मौलिक रूप में नही मिलता। मुद्रकों एवं प्रकाशकों के हाथों इसका रूप विकृत हो गया है।

वागड़ी—'वागड' क्षेत्र की भाषा वागडी नाम से जानी जाती है। डूंगरपुर और बांसवाडा के संयुक्त क्षेत्र का प्राचीन नाम 'वागड' है। इसी वजह से यहाँ की भाषा वागडी कहलाती है। यह मेवाड़ के दक्षिणी क्षेत्र और सूंथ के उत्तरी भाग में बोली जाती है। वागड़ी पर गुजराती का बहुत अधिक प्रभाव है। इसके अन्दर 'च' और 'छ' का उच्चारण प्रायः 'स' और 'स' का उच्चारण प्रायः 'ह' होता है। इसमे भी कुछ साहित्य रचा गया है जो अप्रकाशित है। नव लेखन की लहर इस उपभाषा मे उठती दिखाई दे रही है।

मालवी—मालवी समस्त मालवा की भाषा है और मेवाड़, मध्यप्रांत आदि के कुछ भागों मे भी बोली जाती है। अपने समस्त क्षेत्र मे इसका एक ही रूप देखने को मिलता है। इसमें मारवाडी और ढूंढाड़ी दोनो की विशेषताएँ देखने को मिलती है, कही-कही मराठी का असर भी झलकता है। यह एक बहुत ही मधुर और कोमल भाषा है। औरतो के मुंह यह बहुत अच्छी लगती है, मालवा के राजपूतों मे इसका एक विशेष रूप प्रचलित है, जिसे 'रागडी' कहा जाता है परन्तु रागडी इतनी मधुर और मीठी नही है जितनी कि मालवी है। मालवी में ज्यादा साहित्य नही लिखा गया। परन्तु चन्द्रसखि, नटनागर आदि की रचनाओं में इसका बहुत सुन्दर रूप देखने को मिलता है। प्राचीन पट्टे-परवानों में भी इसके मौलिक रूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, इसमें काल (Tense) को बताने के लिए 'हो', 'ही' के स्थान पर 'थो', 'थी' का प्रयोग होता है। जैसे—"एक मूंजी रै कनै घोडो माल थो। वणी नै हराई भी डर लाग्यो रेतो थो के आजी दुनिया रा चोर नै डाकू म्हाजन धन पर आंख्या लगाया थका है, नी मालम कदी आई नै

वो लूटी लेगा" उदाहरण से स्पष्ट है कि 'स' की जगह 'ह', 'लेसी' की जगह 'लेगा' का प्रयोग इस उपभाषा में होता है।

उपरोक्त उपभाषाओ मे रची-बसी राजस्थानी भाषा का समस्त राजस्थान में इकसार रूप था, मुंहणोत नैणसी जालोर के निवासी, कविराजा बांकीदास जोधपुर के रहने वाले, दयालदास ने अपनी ख्यात बीकानेर में बैठकर लिखी और कविराजा सूर्यमल्ल बूंदी के निवासी थे परन्तु इनके लिखे गद्य में कोई खास फर्क नही था। राजस्थानी का एक रूप स्वरूप इनकी भाषाओं में मिलता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि राजस्थानी एक भाषा है। यह बोलियों का एक समूह मात्र नही। जहां तक उपभाषाओं या बोलियों का प्रश्न है, हर भाषा में बोलियां या उपभाषाएं हैं जो मिलकर भाषा को समृद्ध बनाती हैं। राजस्थानी की बोलियां राजस्थानी भाषा की समृद्धता की परिचायक है। राजस्थानी भाषा है, और भाषा है।

राजस्थानी के काव्यगत रूप–डिंगल और पिंगल

राजस्थानी साहित्य तीन शैलियो में लिखा गया है—जैन शैली, चारण शैली और लौकिक शैली। जैन शैली के लेखक जैन साधु थे या उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग थे। इस शैली मे प्राचीन युग की झलक मिलती है। जैन लोगो का सम्बन्ध गुजरात से विशेष रूप से रहा है, इसी वजह से जैन शैली म गुजराती का भी असर मिलता है। दूसरी शैली चारण शैली कहलाती है, इसके लेखक चारण या दूसरे लोग थे। यह जैन शैली से अलग अन्य तरह की थी। जैनियों की अपभ्रंश रचनाओं में भी विशेष तौर मे युद्ध वर्णन मे इसका मूल रूप देखा जा सकता है, चारणों की डिंगल शैली अपभ्रंश का ही विकसित रूप है। तीसरी और अन्तिम शैली लौकिक शैली है, इसने हमेशा अपने समय की भाषा का प्रयोग किया है। साधारण जनता ने साहित्य संरचना इसी शैली में की है।

डिंगल—डिंगल शब्द का प्रयोग कभी तो राजस्थानी की चरण शैली के लिए किया जाता है और कभी पूरी राजस्थानी के लिए। असलियत में राजस्थानी साहित्य का एक रूप डिंगल नाम से जाना जाता है। यह नाम चारण कवियो ने मारवाड़ी के साहित्यिक रूप को दिया है। डिंगल नाम का सर्वप्रथम प्रयोग कवि कुशललाभ रचित 'पिंगल शिरोमणि' (1618–1635) ग्रन्थ में देखने को मिलता है, जो निम्न प्रकार है—

डिंगलिया मिलियां करै पिंगल तणो प्रकास
संस्कृती ह्वै कपट सज पिंगल पढियां पास

सेवग मंछाराम ने डिंगल गीतों का विवेचन करने वाला अपना ग्रन्थ रघुनाथ-रूपक डिंगल में लिखा परन्तु उन्होंने डिंगल शब्द का प्रयोग कहीं नही किया। बांकीदास के बाद डिंगल शब्द का प्रयोग करने वाले रचनाकारों मे सबसे महत्त्व-

पूर्ण नाम सूर्यमल्ल का है। आपने 'वंश भास्कर' नाम के महाग्रन्थ में प्रयुक्त भाषाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—

डिंगळ उपनामक कहुँक मरुवानी हूँ विधेय।

अपने पिता श्री का नामोल्लेख करते हुए कवि ने लिखा है—

पिंगळ-डिंगळ पटु भये धुरंधर चंडीदान।

आगे उन्होंने एक जगह फिर लिखा है—

मरुभाषा डिंगळ भाषा इत्येके।

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति—डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में विद्वान लोग एकमत नहीं है। अलग-अलग विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत प्रस्तुत किए है। परन्तु सभी विद्वानों के मत अनुमानों के ऊपर आधारित्त है। कुछ महत्त्वपूर्ण विद्वानों के मतो का उल्लेख निम्न प्रकार है—

श्री हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगर' या 'डगळ' शब्द से हुई है। उनके मतानुसार 'डगळ 'पहले 'जंगल' या मरु देश की भाषा का नाम था। अपने मत को पुष्ट करने हेतु उन्होंने एक दूहा उद्धृत किया है जिसे वे चौदहवी सदी का बताते है। दूहा नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

दीसै जगळ डगळ जेथ जळ वगळ चाटे।
अनहुँता गळ दिये गळा हुँता गळ काटे॥

परन्तु इस पद्य के अन्दर जंगल देश की भाषा का वर्णन नही है। अपितु उसके लोगो का वर्णन है। डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने इस पूरे पद्य का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अगर शास्त्री जी को पूरा पद्य मिल जाता तो वे डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगळ' शब्द से नही बताते न ही यह 14वी शताब्दी का पद्य है। यह पद्य अल्लूजी चारण का लिखा हुआ है जो 16वीं शताब्दी में हुए थे। इस सम्पूर्ण पद्य में सर्वशक्तिमान ईश्वर का वर्णन किया गया है। पूरा छप्पय इस तरह है—

दीसै जंगळ डगळ, जेथ जल बगला चाढै।
अणहुँतां गळ दियै, गळा हुँता गळ काढै॥
मच्छ गळा गळ मांहि,'ग्वाल हुय गली दिखालै।
गळी डाळ फळ गहै, गहर डाळी फळ गाळै॥
मगळ अमूर-सुर नाग नर, आपण चै कुळ ऊधरै।
अनंत रै हाथ अमंगळ-मंगळ, ई मगळ विधा करै॥

श्री हरप्रसाद शास्त्री डिंगल को भाषा नही एक काव्य-शैली मानते हैं परन्तु डॉ. मोतीलाल मेनारिया इसे एक उन्नत भाषा कहते है। डॉ. हीरालाल महेश्वरी इस बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि मरुभाषा को डिंगल भी

कहा जाता है। 19वी शताब्दी तक दोनो एक जैसी मानी जाती थी। परन्तु रावत सारस्वत डिंगल को भाषा स्वीकार नही करते। वे इसे एक काव्य-शैली ही मानते है। असलियत भी यही है कि डिंगल एक काव्यगत-शैली है। इस शैली में रचित ग्रंथों में प्रयुक्त शब्दो का एकत्रीकरण कर डिंगल-कोश भी प्रकाशित हुए है। इनसे एक भ्रम सा पैदा हो गया है। आम लोग कोश भाषा का ही जानते हैं, शैली के कोशों से उनका विशेष परिचय नही है। ऐसा भी हुआ है कि शैली शब्द कालान्तर में छूट गया और डिंगल रह गई। जिसे डिंगल कहते-कहते भाषा और शैली का अन्तर मिट गया और जन साधारण लोग डिंगल को भाषा कहने लगे। डिंगल में लिखने का मतलब डिंगल शैली में लिखना न रहकर डिंगल भाषा का अर्थ देने लगा। इसी से भाषा और शैली का भ्रम पैदा हुआ।

डॉ. एल. पी तेस्सितोरी डिंगल शब्द का अर्थ 'अनियमित' अथवा 'गंवारू' से लेते हैं। उनके मतानुसार, 'ब्रजभाषा' परिमार्जित थी और साहित्य शास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी, परन्तु डिंगल इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी। इसी वजह से इसका यह नाम पड़ा। वे इसे पढ़े-लिखो की भाषा नही मानते। परन्तु तेस्सितोरी का मत स्वीकार नही किया जा सकता। प्रथम तो इसलिए कि डिंगल पढ़े-लिखे चारणों की भाषा थी और चारण लोग 'गवारू' नही थे। द्वितीय यह कि यह अनियमित भी नही थी। इसमें व्याकरण की विशुद्धता के साथ-साथ छन्द, रस, अलंकार आदि काव्यागो का उतना ही ध्यान रखा जाता था जितना कि ब्रजभाषा की कविता में। बल्कि डिंगल के छन्दों मे शास्त्रीय नियमों का अत्यधिक ध्यान रखा जाता। डिंगल अपनी विशिष्टता से इतनी चर्चित हुई और यह शैली भारतीय साहित्य की प्रमुख शैली बनी।

श्री गजराज ओझा के मतानुसार, "डिंगल मे 'ड' वर्ण का ज्यादा प्रयोग होता है। इसी वजह से पिंगल की तरह इसका नाम डिंगल रखा गया। जिस तरह बिहारी की ल-कार प्रधान भाषा है उसी तरह डिंगल में 'ड' वर्ण प्रधान है।" परन्तु असलियत में, डिंगल मे ऐसी कोई बात नही है। दो-चार पद्यो मे 'डकार' ध्वनि की प्रधानता हो जाने से समस्त डिंगल 'ड-कार' प्रधान नही कही जा सकती।

श्री पुरुषोत्तम स्वामी डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डिम + गळ' शब्द से बताते है। 'डिम' का अर्थ है–डमरू की ध्वनि और 'गळ' का अर्थ वे 'गला' बताते है। उनका मानना है कि "डमरू की ध्वनि रणचंडी का आह्वान करती है और वीरो को उत्साहित करने वाली है। डमरू वीर-रस के देवता महादेव का वाद्य है। गले से जो कविता निकलकर डिम्-डिम् की तरह वीरो को उत्साह से भरदे'

उसे ही डिंगल कहा जाता है।" परन्तु पुरुषोत्तम स्वामी का मत सही जान नहीं पड़ता। न तो महादेव वीर-रस का देवता है और न ही डमरू की ध्वनि उत्साहवर्द्धक मानी जाती है। एक बात इस सम्बन्ध में और कही जाती है। वह यह कि प्रो. नरोत्तम स्वामी विभिन्न नामों से लिखते रहे है। कुछ विद्वानों का कहना है कि 'स्वामीजी' ने यह मत प्रस्तुत किया है। पुरुषोत्तम स्वामी उस वक्त जब यह मत व्यक्त किया गया, राजस्थानी में इतनी रुचि नही लेते थे और न ही राजस्थानी के आदमी थे। विज्ञान विषय इनका प्रिय विषय था। इसी में वे लिखते थे।

श्री उदयराज ऊजल और श्री किशोर सिंह बार्हस्पत्य डिंगल को उड़ने वाली भाषा बताते है। और ऊजल तो पिंगल को 'पांगली' भाषा बताते है। उनका मानना है कि पिंगल की बजाय डिंगल की व्याकरण, छन्दशास्त्र आदि के नियम अधिक सरल है और कवि को शब्दों का मनचाहा प्रयोग करने की अधिक सुविधा है। वे कहते है कि 'डंगळ' शब्द जो कि डिंगल की उक्त विशेषताओं का सूचक है, से डिंगल शब्द बना है। वे कहते है, 'डग'=पंख और 'ळ'=ली हुई। डगळ=पंख ली हुई यानि उड़नेवाली यानि स्वतन्त्रतापूर्वक चलने वाली यानि सरलता से काम में आने वाली भाषा। परन्तु डिंगल को पिंगल से सरल मानकर की हुई ऊजल की व्याख्या उज्ज्वल नही है। डिंगल व्याकरण और छन्दशास्त्र के नियम पिंगल से सरल नही बल्कि कठिन है। डिंगल में 'वैण सगाई' नियम इतने कठिन हे कि जिनके सामने पिंगल काव्य के सब नियम-बन्धन मिलकर भी कम पड़ते है। फिर भाषा शास्त्र के अनुसार किसी शब्द में मात्रा और अनुस्वार दोनो की वृद्धि एक साथ नही होती। इनका लोप अवश्य होता है। जैसे 'डिंगल' अथवा 'डींगल' से 'डगल' तो हो सकता है परन्तु 'डगळ' से 'डिंगल' या 'डींगल' नही हो सकता। इस तरह यह नियम भाषा शास्त्र के सामान्य सिद्धान्तो के भी विपरीत है।

कई लोग 'डिम+गळ' से, कई लोग 'डिग्गी+गळ' से और कई लोग 'डींग' से डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति बताते है। पं. रामकरण आसोपा और किशोर सिंह बारहठ ने इसकी उत्पत्ति क्रमशः 'डमि' और 'डीङ' धातुओं से बताई है। डॉ. ग्रियर्सन और डॉ. श्यामसुन्दर दास डिंगल की व्युत्पत्ति के लिए मानते है कि जो लोग ब्रजभाषा में कविता लिखते उनकी भाषा पिंगल थी और इससे भेद करने के लिए मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि के ऊपर गढ़ा हुआ 'डिंगल' नाम पड़ा।

डॉ. मोतीलाल मेनारिया का मत है कि "डिंगल शब्द 'डिग्गी-गळ' शब्द से बना है। डिंगल का सम्बन्ध 'डींग' से है। उनके मत में डिंगल का अर्थ है

डींग हांकने वाली भाषा। चारण लोग अपने आश्रयदाताओं के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी बातें कहते-करते और अतिशयोक्तिपूर्ण रचनाएँ करते। डॉ. मेनारिया का मानना है कि वृद्ध चारण आज भी डिंगल को डिंगल न कहकर 'डींगल' कहते हैं। अतिशयोक्तिपूर्ण रचनाएँ पिंगल में भी है और वृद्धजन 'पिंगल' को भी 'पींगल' कहते हैं। परन्तु मूल शब्द डिंगल और पिंगल ही है।" डॉ. मेनारिया ने चारण काव्य की विशेषताओं को ध्यान में रखकर अनुभव के आधार पर अपना मत प्रस्तुत किया है। इसमे भी अधिक सन्देह वाली बात नही है कि चारणों ने अतिशयोक्तिपूर्ण रचनाएँ कर लोक में अपने को 'चारण'—एक प्रतीकात्मक कहावत के रूप में प्रतिस्थापित कर दिया; भले ही वे अपना शास्त्रीय या ऐतिहासिक स्वरूप कुछ भी बताएँ परन्तु लोक मे वे आज भी इसी रूप में जाने जाते है; इसमें भी दो राय नही कि उनकी डींग हांकने की प्रवृत्ति रही है, परन्तु डिंगल का जो अच्छा साहित्य है, वह डींग-डाग से परे है। अतः इसे डींग हांकने वाली रचनाओं से सम्बद्ध करके इसके सम्मान को न्यून करना ही कहा जाएगा। डिंगल का साहित्य भारतीय साहित्य में प्रतिष्ठित स्थान रखता है। इसकी शब्द व्युत्पत्ति तलाशते समय इस साहित्य की अपनी अनुपम अद्वितीय प्रतिष्ठा का भी ध्यान रखा जाना चाहिए।

कुशललाभ रचित 'पिंगल-शिरोमणि' ग्रन्थ में उडिंगल नागराज के एक छन्द का शास्त्रकार के रूप में उल्लेख हुआ है। छन्दो का सबसे पहले विवेचन करने वाला पिंगलनाग हुआ। जब अपभ्रंश में नये से नये मात्रिक छन्दो का प्रयोग होने लगा तो उनका आविष्कारक भी पिंगल ही माना गया, और उसी के नाम पर 'प्राकृत पैंगलम्' ग्रन्थ बना। इस तरह पिंगल कविता में प्रयुक्त छन्दों का आविष्कारक 'पिंगल नागराज' प्रसिद्ध हुआ। जब डिंगल गीतो का आविष्कार हुआ तो उनका सम्बन्ध भी किसी प्राचीन महापुरुष से जरूर लगा होगा और पिंगल नागराज के समान 'उडिंगल नागराज' की कल्पना की गई होगी। यह 'उडिंगल' शब्द ही डिंगल का मूल शब्द है और इसके अर्थ करने की कोई आवश्यकता नही लगती। परन्तु सबसे प्रमुख बात यह है कि डिंगल भाषा न होकर एक काव्य-शैली है।

डिंगल और पिंगल

पश्चिमी राजस्थान, सौराष्ट्र, कच्छ आदि के पश्चिमी क्षेत्रों में चारणों का जोर रहा है और पूर्वी राजस्थान, ब्रजमण्डल आदि के पूर्वी क्षेत्र में ब्रह्मभट्टों का। ब्रह्मभट्टों को भाट भी कहा जाता है, परन्तु ये वंशावली आदि रखने वाले भाटों से अलग है। चारण शैली लेकर पश्चिमी राजस्थान की भाषा मारवाडी में चारण लोगों ने काव्य रचना की और ब्रह्मभट्टों ने पिंगल के छन्दों में और पदों

को लेकर ब्रजभाषा मे रचना की। दोनों ही तरह की रचनाएँ वीर-रस प्रधान थी। ब्रजभाषा में ये रचनाएँ पिंगल शैली की रचनाएँ मानी गई और राजस्थानी मे यह डिंगल शैली की रचनाएँ कहलाई। चारणों एवं भाटो में कई दिनों तक प्रतिद्वन्द्विता रही। अभी भी एकदम खत्म नहीं हुई है। आगे चलकर चारणों ने भी पिंगल को अपनाया। सूर्यमल्ल और स्वरूप दास सरीखे प्रमुख चारण कवियों ने पिंगल मे रचनाएँ की। सूर्यमल्ल के 'वंश-भास्कर' का तीन-चौथाई से भी अधिक हिस्सा पिंगल में रचा हुआ है। इसमें डिंगल का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। कालान्तर में पिंगल में धीरे-धीरे कृत्रिमता आने लगी। अनुस्वार का प्रयोग पृथ्वीराज रासो (जो पिंगल की प्राचीन रचना है और जिसकी रचना अकबर के काल में हुई होगी) में भी दिखाई देता है। पीछे की रचनाओं में यह और भी मिलता है।

डिंगल साहित्य

डिंगल साहित्य मे राजस्थान के सैकडों वर्षों के संस्कार, उसका संघर्षमय लोक-जीवन और उसका इतिहास प्रतिबिम्बित है। यह देशप्रेम, जातीय-गौरव और आजादी के सन्देशों से लबालब भरा हुआ है। इस साहित्य मे रणक्षेत्र के लिए उतावले होते वीरों, मरने के लिए अधीर होती वीरांगनाओं और रणखेतों के भावमय चित्राम चित्रित है। यह साहित्य जीवन का साहित्य है। यह ऐसे लोगों का साहित्य है, ऐसे लोगो द्वारा रचा हुआ साहित्य है, जिन्होंने तलवारों की चोटें अपने सिरों पर झेली और रणक्षेत्रों में जूझ कर अपने प्राण त्यागे।

डिंगल रचनाओं मे साहित्य का ही नहीं अपितु इसमे इतिहास विषयक सामग्री भी विपुल मात्रा में मिलती है। 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर 19वीं शताब्दी के मध्य तक के चार सौ वर्षों मे हिन्दू-मुसलमानों के बीच कई युद्ध हुए और उनके कारण राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक विचारों मे जो क्रान्ति हुई, उनका सविस्तार वर्णन अगर कहीं मिलता है तो वह डिंगल साहित्य में ही मिलता है। गद्यात्मक सामग्री अधिकतर ख्यात, बात, विगत और पीढ़ी-वंशावलियों मे मिलती है। ख्यातों मे सिसोदिया री ख्यात, राठोडां री ख्यात, मुहणोत नैणसी री ख्यात आदि। विगतों में मेवाड़ रा भाखरां री विगत, सिसोदिया चूडावतां री साख री विगत, जोधपुर-बीकानेर टीकायतां री विगत, आदि। पीढियों मे–ईडरधणी राठोडां री पीढ्यां, राठोडां री खांपां री पीढ्यां, भायलां री पीढ्यां आदि। वंशावलियों मे–राठोड़ां री वंशावली, झालां री वंशावली, बीकानेर के राठोड राजाओं की वंशावली आदि। पद्यात्मक सामग्री क्रमबद्ध काव्य ग्रन्थों के रूप में मिलती है और फुटकर कविताओं मे भी। क्रमबद्ध ग्रन्थों मे रासो, प्रकास, विलास, रूपक, वचनिका आदि चरित्र नायकों के साथ

जुड़कर नामकरण पाते रहे है। जैसे—रायमल रासो, मगतसिंह रासो, रतन रासो आदि; राज प्रकास, सूरज प्रकास, भीम प्रकास, कीरत प्रकास आदि; राज विलास, जग विलास, रतन विलास, अभय विलास आदि; राज रूपक, जोगादे रूपक, रतन रूपक आदि; अचलदास खीचो री वचनिका, राठौड़ रतन महेसदासोत री वचनिका आदि। छन्दो के आधार पर भी ग्रन्थों के नामकरण हुए है; जैसे नीसाणी—गोगाजी-चहुँवाण री नीसाणी, राठौड़ अजबसिंह गंगासिंघोत री नीसाणी, नीसाणी वीरमाण री आदि, झूलणा—सोढा रा गुण झूलणा, राजा गजसिंह रा झूलणा, अमरसिंहजी रा झूलणा आदि; वेल—राजकुमार अनोप सिंघजी री वेल, राजा रायसिंघजी री वेल, जैतावतां री वेल, राजा सूरजमलजी री वेल आदि, झमाळ—वीदावत करमसेण हिम्मतसिंघोत री झमाळ, झमाळ जोरसिंह चापावत री आदि; गीत—सीघला रा गीत, पंवारां रा गीत, राजा रायसिंघजी रा गीत आदि; कवित्त—महाराजा अभैसिंघजी रा कवित्त, पंवार अखैराज राठौड रतनसी रा कवित्त, चहुँवाण सावलदासजी करमसिंघजी रा कवित्त आदि; दूहा—पाबूजी रा दूहा, राव अमरसिंघजी रा दूहा, लाखै फूलाणी रा दूहा आदि; इनके अलावा पाधडी, दवावैत, मोटक आदि छन्दों मे भी ग्रन्थ रचे मिलते है। ये ग्रन्थ अलग-अलग समयावधि मे अलग-अलग स्थानो में लिखे हुए है, परन्तु इनके लिखने वालों का ढंग एक-सा था। सर्वप्रथम मंगलाचरण और प्रमुख देवी-देवता तथा गुरु की स्तुति है, इनके बाद राजवंशावली प्रारम्भ होती है, जिसमे सृष्टि के रचयिता ब्रह्माजी से लेकर ग्रन्थ नायक तक के राजाओं के नाम लिए जाते। मुख्य कथा चरित्र नायक के जन्मदिन से शुरू होती है। इसके बाद फिर उसके युद्ध, उसकी वीरता, उसके पराक्रम, बाहुबल और सैन्यबल का वर्णन किया जाता है। प्रायः ग्रन्थ प्रमुख विजय या फिर नायक की मृत्यु के साथ सम्पूर्ण होता है।

फुटकर कविताएँ दोहा, छप्पय और गीत छन्दो मे लिखी हुई मिलती है। गीतबद्ध कविताओं को राजस्थान में 'साख की कविता' कहा जाता है, क्योकि यह किसी प्राचीन घटना आदि के सच्ची होने का प्रमाण अथवा गवाही देती है। फुटकर दोहा, कवित्त और गीत, वीर और दानी पुरुषो तथा ऐतिहासिक घटनाओं के छोटे-छोटे फोटोग्राफ है। ये थोड़े समय के लिए उनके असली रूप को अपनी आँखों के समक्ष लाकर खड़ा कर देती है।

इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों के अलावा धर्म, नीति, तत्त्वज्ञान, वृष्टि-विज्ञान शालिहोत्र आदि कुछ अन्य विषयों पर रचे ग्रन्थ भी डिंगल में मिलते है। ये ग्रन्थ भाषाशास्त्र की दृष्टि से बडे काम के है और राजस्थानी भाषा के क्रमिक इतिहास का ज्ञान कराने में बहुत सहायक सिद्ध होते है।

डिंगल कविता प्रधानतः वीर रस से सराबोर है, परन्तु इसमें शृंगार रस, करुण रस, हास्य रस, भयानक रस, अद्‌भुत रस, रौद्र रस, वीभत्स रस, शांत रस आदि भी मिलते हैं। डिंगल कविता सीधी-सादी है परन्तु फिर भी अर्थालंकार, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकार भी डिंगल में मिलते है। शब्दालंकारों में 'वैण सगाई' लोकप्रिय रहा है। 'वैण सगाई'-'वैण' और 'सगाई'—इन दो शब्दों से मिलकर बना है। इसका अर्थ है—वर्ण का सम्बन्ध या वर्ण द्वारा स्थापित सम्बन्ध। 'वैण सगाई' का साधारण नियम यह है कि छन्द के किसी चरण में प्रथम शब्द का प्रारम्भ जिस वर्ण से होता है, उसके अन्तिम शब्द का प्रारम्भ भी उसी वर्ण से होना चाहिये। जैसे—

सचो समीणो साहिबो, सूर धीर समरत्थ।
जुध में वामण डंड जिम, हेलो वाघं हत्थ॥

पिंगल

पिंगल शब्द का अर्थ है, छन्दशास्त्र। परन्तु राजस्थान में इससे तात्पर्य है—राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा। ब्रजभाषा को शुद्ध ब्रजभाषा कहा जाता है। 'पृथ्वीराज रासो' और 'वंश-भास्कर' इसके प्रमुख ग्रन्थ है। पिंगल साहित्य भी राजस्थानी में लगभग उतना ही रचा गया है जितना डिंगल साहित्य। खुमाण रासो, पृथ्वीराज रासो, हमीर रासो, अवतार चरित्र, राज विलास आदि ग्रन्थ पिंगल शैली के हैं। इनके अलावा पिंगल में फुटकर रचनाएँ भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं।

मध्यकाल में डिंगल और पिंगल अत्यधिक लोकप्रिय रही है। आधुनिक काल के प्रारम्भ में भी कवियों ने इनमें अपनी रचनाएँ की हैं परन्तु अब आते-आते इस शैली का प्रचार बहुत कम हो गया है। नवयुग की साहित्यिक प्रवृत्तियों में डिंगल और पिंगल शैली अपना स्थान खो बैठी है। परन्तु इनके साहित्यिक महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

राजस्थानी प

आदमी ने सबसे पहले बोलना सीखा और फिर लिखना। अक्षरों की बनावट बोली का ही शांत रूप है। बोली के तदनुकूल लिपि कभी भी पूर्ण और उसके समान नही हो सकती। जो बोला जाता है, उसे वैसा का वैसा लिपि में नही ढाला जा सकता। वह तो निकटतम उच्चारण का एक सामाजिक इशारा है।

समस्त विश्व की सभी भाषाओं के उच्चारण करने के समान स्थान है। कंठ, तालवा, मूर्धा, दांत और होंठ। इन सभी स्थानों से जीभ के संयोग से

('प' वर्ग को छोड़कर) अलग-अलग ध्वनियाँ निकलती है। संसार की सभी भाषाएँ बिन्दुओं और लीकटियों के योग से बनी है। बिन्दुओं और लीकटियों में समानता के पश्चात् भी लिपियों में अनेकानेक विभिन्नताएँ और लिपि में अगर समानता भी है तो उनके उच्चारण ध्वनि में भिन्नता है। संसार की सभी व्याकरणों का मूल सिद्धान्त लगभग समान होने पर भी हर भाषा की नई व्याकरण व्याकरणों के इतिहास में एक नई उपलब्धि है। मूल सिद्धान्त की समानता के कारण सभी व्याकरणें समान और एक नहीं होती परन्तु अपनी अलग विशेषताओं के दावे के आधार पर हर भाषा की व्याकरण अपना अलग अस्तित्व रखती है।

राजस्थानी भाषा की लिपि देवनागरी से मिलती है। कुछ अक्षरों की बनावट में अन्तर अवश्य है। परन्तु यह अन्तर अब दिन-ब-दिन मिटता जा रहा है। देवनागरी के अलावा 'महाजनी' भी राजस्थानी की लिपि रही है, जिसे व्यापारी लोग काम में लेते रहे हैं। इसके अक्षर 'मुड़िया' कहलाते थे। इस लिपि में मात्राएँ नहीं होती। 'महाजनी' या 'वणियावाटी' कहलाने वाली यह लिपि विणज-व्यापार में काम आती रही। इसके अलावा एक लिपि और थी जिसे कामदारी लिपि कहा जाता है। यह लिपि दफ्तरों मे प्राय: कर काम में आती थी। डॉ. मोतीलाल मेनारिया मुड़िया लिपि का आविष्कारकर्ता मुगल सम्राट अकबर के अर्थ सचिव टोडरमल को मानते है।

राजस्थानी भाषा की वर्णमाला मे 49 वर्ण ध्वनियाँ हैं, जिनमें 11 स्वर और 38 व्यंजन है।

स्वर : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, ऋ

व्यंजन : क ख ग घ ङ　　प फ ब भ म

च छ ज झ ञ　　य र ल व व़

ट ठ ड ढ ण　　श ष स ह

त थ द ध न　　ळ ड़

(ं) अनुस्वार और (:) विसर्ग

वर्णमाला की ग्यारह स्वर ध्वनियों में अ, इ, उ, ऋ, ये ह्रस्व स्वर कहलाते है और आ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ—ये सात दीर्घ स्वर कहे जाते है।

स्वर व्यंजन के आगे आता है तो वह व्यंजन में मिल जाता है। मिलने मे उसका रूप बदल जाता है। इस बदले हुए रूप को मात्रा कहा जाता है। मात्राएँ इस तरह है—

ं, ा, ि, ी, ु, ू

'अ' की कोई मात्रा नही होती। 'अ' व्यंजन के आगे आता है तो व्यंजन के हल् का चिन्ह आधा कर देता है। जैसे—च् + अ = च

मात्राओं से व्यंजन के जो रूप बनते है, वह 'बारखड़ी' कहलाती है। अर्थात् मात्राओं सहित व्यंजनो के रूपों को 'बारखड़ी' कहा जाता है। जैसे 'क' की बारखडी निम्न तरह है—क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कृ।

राजस्थानी में व्यंजन शिक्षा को 'कक्का' कहा जाता है। इसे सीखने के लिए प्राचीन पद्य भी है। जैसे—कक्को कोटकड़ो, खक्खो खून चोरट्यो, गग्गो गोरी गाय, घग्गो घटूलियो आदि।

राजस्थानी लिपि की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित है—

(1) 'ल' और 'ळ' की अलग-अलग ध्वनियां है। अगर 'ल' को 'ळ' उच्चारित करें या 'ळ' को 'ल' उच्चारित करें तो अर्थ ही बदल जाता है। जैसे—

ल	ळ
गाल	गाळ
कुल	कुळ
खाल	खाळ
सूल	सूळ

(2) 'व' दो तरीकों से लिखा जाता है। एक 'व' देवनागरी की तरह और दूसरा लाइन के नीचे डोट लगाकर—'व़'। यह 'व़' प्राचीन हस्तलिपियों में सब जगह मिलता है। परन्तु अब इसका प्रयोग पुराना पड़ गया है। करीब-करीब 'व' ही काम में लिया जाने लगा है। उदाहरण के तौर पर—वचियो-व़चियो, वाळ-व़ाळ आदि।

(3) 'ड' और 'ड़' की भी अलग-अलग दो ध्वनियां है। हिन्दी में यह अलग-अलग जगह प्रयोग में ली जाती हैं। राजस्थानी में इनका प्रयोग एक जगह भी हो सकता है, परन्तु अर्थ में हर जगह अन्तर होता है। जैसे—

ड	ड़
मोडो	मोड़ो
नाडी	नाड़ी
पाडो	पाड़ो

(4) राजस्थानी में एक रूप परन्तु अलग-अलग अर्थ देने वाले बहुतायत में शब्द हैं। जिनके बोलने के ढंग से अर्थ बदल जाते है। जैसे—

नानो	ना'नो
कद	क'द

नार	ना'र
कोड़	को'ड़
सारो	सा'रो

(5) स, श, ष में से सादा 'स' ही राजस्थानी में काम में लिया जाता है। कहीं-कहीं 'ष' को जगह 'ख' का प्रयोग होता है।

(6) 'ढ़' और 'अः' का प्रयोग राजस्थानी में नहीं होता।

(7) राजस्थानी में ऋ की ध्वनि है परन्तु इसका अलग लिपि संकेत नहीं है। इसे 'रि' करके ही लिखा जाता है। जैसे—

ऋतु	रितु
ऋषि	रिसी

पृथ्वी, सृष्टि और दृष्टि आदि शब्दों में जो 'ृ' का चिह्न है उसे आधा 'र' और कभी-कभी आधा 'र' के साथ में 'ि' की मात्रा से लिखा जाता है। जैसे—प्रिथ्वी या प्रथवी, स्रिस्टी या स्रस्टी और द्रिस्टी या द्रस्टी आदि।

(8) राजस्थानी मे ॠ, लृ और दीर्घ लृ की ध्वनियाँ नहीं हैं।

(9) राजस्थानी में 'उ', 'ऊ' के लिपि-संकेत थोड़े अलग हैं परन्तु राष्ट्रीय पैमाने पर लिपि की एकता को ध्यान में रखते हुए 'उ', 'ऊ' को स्वीकारा गया है। 'अु' और 'अू' कम्पोज मे भी कठिन है।

(10) 'ए', 'ऐ' की ध्वनियाँ है परन्तु उनके संकेत 'अे', 'अै' है। संस्कृत के अन्तिम स्वर 'अः' की राजस्थानी में कोई ध्वनि नहीं है।

(11) 'ञ' (नानियो खांडो चंदरमा) अब अनुस्वार में बदल गया है। इस व्यंजन की अब कोई उपयोगिता भी नहीं है।

(12) 'ख' 'घ' 'च' 'झ' 'ड' 'ध' 'भ' की ध्वनियों के लिपि संकेत संस्कृत से काफी भिन्न है परन्तु अब कम्पोज की सुविधा के कारण संस्कृत संकेतों को ही मान लिया गया है।

(13) तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' की ध्वनियाँ तो है परन्तु लिपि में दंती 'स' ही प्रयोग किया जाता है।

(14) 'ज्ञ' की जो लिपि ध्वनि है, उसका स्वतन्त्र संकेत नहीं है। इसे 'ग्य' के रूप में लिखा जाता है। जैसे—ज्ञान-ग्यान।

(15) संयुक्ताक्षरों की ध्वनि राजस्थानी में नहीं है। 'क्ष' का राजस्थानी मे 'छ', 'क' या 'ख' में रूप परिवर्तन होता है। जैसे लक्षण—लखण, लक्ष्मण—लिछमण और राक्षस—राकस आदि।

(16) राजस्थानी में रेफ का प्रचलन बोली में नहीं है। 'र्' या तो पूरा 'र' हो जाता है या फिर पहले अक्षर में आगम हो जाता है। जैसे—धर्म-धरम या ध्रम। अधिकांशतः रेफ का पूरा 'र' ही राजस्थानी म होता है।

(17) 'क्त' की संयुक्त ध्वनि राजस्थानी में नहीं है। 'क्त' का पूरा 'ग' या 'क' हो जाता है। जैसे रक्त—रगत, शक्ति--सगती और वक्त का वकत या वगत आदि।

(18) 'ङ, ञ, न, ण, म' बोली में होते हुए भी इनके अलग संकेत नहीं है। इन सबको अनुस्वार से ही लिखा जाता है। चन्द्र विन्दु का प्रयोग भी नहीं होता।

राजस्थानी भाषा और साहित्य : काल विभाजन

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, राजस्थानी का प्राचीन नाम मरुभाषा था। आठवी सदी के ग्रन्थ 'कुवलयमाला' में मरुभाषा का उल्लेख इस बात की साक्षी भरता है कि इसका साहित्य आठवी सदी से भी पहले का है। इस ग्रन्थ में "अप्पा तुप्पा भणि रे, अह पेच्छई मारू ए तत्तो" पद्य है। 'अप्पा तुप्पा' उस वक्त की भाषा का नाम है। 'कुवलयमाला' की एक 'चर्चरी रास' मे मरुभाषा (जूनी राजस्थानी) का रूप नीचे द्रष्टव्य है :—

कसिण कमळ दळ लोयण चल हुंत ओ
पीण पिहुल थण कडियल-भार किलंत ओ
ताल चलित वणिआवलि कलयल सद्द ओ
रास यम्मि जइ लब्भइ जुवइ मरथ ओ

परन्तु आठवी शताब्दी से लेकर 10वी शताब्दी तक का बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। 11वी शताब्दी से 13वी शताब्दी तक का भी ज्यादा साहित्य नहीं मिलता। 13वीं शताब्दी के पश्चात् की अनेकों रचनाएं इस भाषा में मिलती है। 16वी शताब्दी तक आते-आते राजस्थानी काफी समृद्ध हो जाती है। भाषा की दृष्टि से इस काल को डॉ. तेस्सितोरी ने पुरानी पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है। डॉ. तेस्सितोरी के मतानुसार, '16वी शताब्दी तक का समय पुरानी राजस्थानी का है। यहाँ से गुजराती अपना स्वतन्त्र रूप विकसित करती है, और कालान्तर मे वह एक अलग भाषा बन जाती है। उधर आधुनिक राजस्थानी अपना अलग रूप ले लेती है। कई विद्वानो ने डॉ. तेस्सितोरी के इस मत पर शंका की है। वे 15वी शताब्दी तक की अवधि को ही जूनी पश्चिमी राजस्थानी का समय मानते है। आधुनिक राजस्थानी का समय 16वी शताब्दी से मानते है। परन्तु 16वी शताब्दी की भाषा जूनी राजस्थानी के ही ज्यादा निकट है। सन् 1455 में पदमनाभ रचित 'कान्हड़दे प्रबन्ध' को गुजराती भाषा के विद्वान जूनी गुजराती का ग्रन्थ मानते है। इस वजह से इसे ही जूनी राजस्थानी का ग्रन्थ माना जाना चाहिये, आधुनिक राजस्थानी का नहीं। 16वी शताब्दी में राजस्थानी साहित्य को विस्तार मिला है। इस समय में कई प्रसिद्ध कवि हुए है, परन्तु साहित्य को नया मोड़ देने वाले कवियों का प्रादुर्भाव 17वी शताब्दी में ही हुआ

है। डिंगल के सर्वश्रेष्ठ कवि पृथ्वीराज राठौड़, दुरसा आढा, ईसरदास, सांइया झूला आदि सब इसी शताब्दी के कवि हैं। यह काल ऐतिहासिक दृष्टि से भी संघर्ष का काल रहा है। 11वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शक्तिशाली पड़िहार राज्य का पतन महमूद गजनी के हाथों 1018 में होता है। 1000—1200 तक अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए राजपूतों में संघर्ष चलता है। जिनमें चालुक्य, परमार और चहुँवाण प्रमुख हैं। इसके पश्चात् यहाँ के हिन्दू राजाओं को अल्लाऊद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक, पठानों, सैयदो और लोदी वंश के शासकों से निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। संग्रामसिंह के साथ खानवा के मैदान में बाबर का अन्तिम युद्ध होता है और संग्रामसिंह की पराजय के साथ मुगल साम्राज्य की नींव भारतवर्ष में पड़ती है। परन्तु इसके पश्चात् भी राजस्थान के लोग मुगल सत्ता के सामने एकदम हथियार नहीं डालते। महाराणा प्रताप सरीखे प्रतापी योद्धा संघर्ष जारी रखते है। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुगल साम्राज्य का पतन होता है और मराठों का राजस्थान में पदार्पण होता है। सन् 1818 में अंग्रेजों की राजस्थान की रियासतों पर राजनैतिक सत्ता स्थापित होती है जो 1947 तक चलती है। इस बीच आजादी के स्वर राजस्थान और राजस्थानी कविता में गूंजते हैं। 15 अगस्त, 1947 को देश आजाद होता है। राजस्थान का एकीकरण होता है। आजादी के पश्चात् नव-सृजन नये तेवर लेकर आता है। नये-नये आयाम खड़े होते हैं और नये-नये चैलेन्ज। राजस्थानी इन सबको स्वीकारती है। राजस्थानी पद्य स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारती स्तर पर अपनी साख स्थापित करता है, तो गद्य इस तरफ संघर्षरत स्पष्ट दिखाई देता है। साहित्य के इतिहास लेखन की दृष्टि से सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य के अध्ययन के लिए काल विभाजन की आवश्यकता होती है।

काल विभाजन

काल विभाजन किसी भी साहित्य के अध्ययन की सुविधा हेतु किया जाता है। क्योंकि सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन एक ही अध्याय में किया जाना न तो सम्भव है और न ही वैज्ञानिक। काल विशेष में साहित्य की अलग-अलग प्रवृत्तियाँ होती है, और कई प्रवृत्तियाँ पीछे छूट जाती है, कई नई प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है और कई प्रवृत्तियाँ किसी काल खण्ड तक निरन्तर चलती रहती है। फिर सामाजिक और राजनैतिक बदलाव भी होते हैं जिनसे साहित्य प्रभावित होता है। हालांकि एक सही विभाजन रेखा खींचकर एक काल को दूसरे काल से अलग करना तो सम्भव नहीं है, क्योंकि सामाजिक-राजनैतिक बदलाव के साथ भाषा और साहित्य में भी क्रमिक विकास होता है। यह विकासक्रम कहीं टूटता नहीं है। एक युग की भाषागत और साहित्यिक विशेषताएँ किसी न किसी रूप में दूसरे युग की रचनाओं को भी प्रभावित करती रहती हैं। परन्तु साहित्य के विकास का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से ठीक तरह हो जाए, इस हेतु समस्त कालक्रम

को किसी न किसी आधार पर कई भागों में बाँटा जाता है। राजस्थानी साहित्य के विकास को भी विद्वानों ने अपने-अपने मतों के अनुसार अपने-अपने ढंग से कई कालखण्डों में विभाजित किया है। उनके काल विभाजन की चर्चा करना उचित होगा ताकि आगे सही दिशा निर्धारित की जा सके।

डॉ. एल. पी. तेस्सितोरी ने भाषा के रूप को आधार मानकर दो स्थूल विभाजन किये है—प्राचीन रूप (स.1357 से 1657 तक) नया रूप (1657 से आगे)। डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने क्रम को ध्यान में रखकर समस्त साहित्य को चार काल-भागों में विभाजित किया है—प्रारम्भ काल (स. 1045 से 1460 तक), पूर्व मध्यकाल (स. 1460 से 1700 तक), उत्तर मध्यकाल (स. 1700 से 1900 तक) और आधुनिक काल (स. 1900 से आगे)। प्रो. नरोत्तम स्वामी ने इस क्रमिक विकास में थोड़ा अन्तर मानकर तीन भागो में बाँटा है—प्राचीन काल (स. 1150 से 1550 तक), मध्यकाल (स. 1550 से 1875 तक) और अर्वाचीन काल (स. 1875 से आज तक)। श्री गजराज ओझा ने विकासात्मक अवस्था को मान कर इस काल विभाजन में थोडा और अन्तर किया है—प्रारम्भ काल (स. 1000 से 1400 तक), मध्यकाल (स. 1400 से 1800 तक) और उत्तरकाल (स. 1801 से आज तक)।

डॉ. हीरालाल महेश्वरी ने अपने शोध प्रबन्ध 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में सुपुष्ट प्रमाणों के साथ प्रारम्भ के दो कालो का विभाजन इस तरह किया है—(i) विकास काल (स. 1100 से 1500 तक) और (ii) विकसित काल (स. 1500 से 1650 तक)। परन्तु इस काल विभाजन को इन्होंने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ राजस्थानी लिटरेचर' में बदल दिया है। जो इस प्रकार है—

1. आरम्भ काल (सन् 1050 से 1450 तक)
2. मध्यकाल (सन् 1450 से 1850 तक)
3. आधुनिक काल (सन् 1850 से आगे)

आधुनिक काल के फिर दो उपभाग किए है—

(i) स. 1850/57 से 1947/50 तक

(ii) स. 1947/50 से आगे।

इन उपरोक्त काल-विभाजनो से एक बात स्पष्ट होती है कि विद्वान लोग राजस्थानी साहित्य को परम्परा दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी से मानते है। परन्तु राजस्थानी का उद्गम इससे भी प्राचीन है। कई विद्वानों का मानना है कि राजस्थानी का उद्गम 5वी शताब्दी में हो गया होगा। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दसवीं शताब्दी के राजस्थान में भरपूर साहित्य को बात कही तथा

राजस्थानी में जो चरित्र काव्य लिखे जाते थे उनका प्रचलन भी सातवीं शताब्दी बताया है। यह भी सत्य है कि महमूद गजनी ने राजपाल को हराकर 1018 में प्रतिहार राज्य को समाप्त किया था, और उसके पहले भी राजस्थानी का अस्तित्व था। प्रतिहारों का मूल घर गुर्जर प्रदेश था और इस वक्त भी इनके भीनमाल और जालोर केन्द्र थे। मिहिरभोज 9वीं शताब्दी में प्रतिहारों का प्रतापी राजा हुआ है। गुर्जर शब्द भौगोलिक भू-खण्ड को बताता है, कोई जाति आदि को नहीं। जब गुर्जर देश चालुक्यों के कब्जे में आ गया, तो भी उसका नाम वही रहा। जूनी राजस्थानी का प्रादुर्भाव सम्भवतः यहीं से हुआ होगा। आधुनिक राजस्थानी और आधुनिक गुजराती के प्राचीन रूप आपस में गहरे गुंथे हुए है और इनमें प्राकृत-अपभ्रंश की भी विशेषताएं मिलती है। गुजराती के सुप्रसिद्ध विद्वान झवेरचन्द मेघाणी प्राचीन राजस्थानी को गुजराती की जननी मानते है। उक्त सन्दर्भ में भी राजस्थानी का प्रारम्भ काफी पहले हुआ होगा, परन्तु उस वक्त का साहित्य उपलब्ध नही है। राजस्थानी के प्राचीन साहित्य में जैन साहित्य की प्रधानता रही है। प्राचीन जैन ग्रन्थों मे उनके रचना काल, रचना स्थान आदि के उल्लेख नही मिलते। इस वजह से सातवीं शताब्दी से पहले के ग्रन्थों के विषय में यह नही कहा जा सकता कि वे कब रचे गये और कहाँ रचे गये। आठवी शताब्दी के आचार्य हरिभद्र सूरि ने 'धूर्ताख्यान' की रचना चित्तौड़ में की, इस बात का स्पष्ट उल्लेख इस ग्रन्थ के अन्त में मिलता है। पांचवी शताब्दी के महान् दार्शनिक जैन विद्वान सिद्धसेन दिवाकर मालवा प्रदेश में विचरे थे। हो सकता है कि वे राजस्थान आए हों। उद्योतन सूरि का ग्रन्थ 'कुवलयमाला' जैन ग्रन्थों मे राजस्थानी के बारे में पुख्ता जानकारी देने वाला ग्रन्थ है। 10वी शताब्दी में 'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' नाम से रूपक ग्रन्थ सिद्धर्षि ने श्री मालनगर में रचा। 11वी शताब्दी में जिनेश्वर सूरि, बुद्धिश्वर सूरि आदि विद्वानों के ग्रन्थ भी सामने आते है। कवि धनपाल रचित 'सच्च उरिय महावीर उत्साह' में अपभ्रंश में राजस्थानी के विकास के चिन्ह मिलने लग जाते है। ऐसे ही आगे भी जैन साधु अपनी रचनाओं से राजस्थानी के भण्डार भरते है। इस अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि राजस्थानी के विकास का एक युग अंधेरे से ढका हुआ है। पांचवी शताब्दी से लेकर 10वी शताब्दी तक की साहित्यिक परम्परा राजस्थानी मे अवश्य रही होगी। परन्तु यह साहित्य कालक्रम में कहीं खो गया है। जैन लोगों ने अपने साहित्य को सम्भाल कर रखा, इसलिए उससे कुछ प्रकाश मिलता है। परन्तु राजस्थानी का काल विभाजन इस पूरे काल खण्ड को छोड़कर नही किया जाना चाहिए। भले ही इसे 'अन्धकारमय युग' ही कहा जाय या और किसी नाम से अभिप्रेत किया जाए परन्तु 5वी शताब्दी से लेकर 10वी शताब्दी के कालखण्ड को एक युग बंध मे बांधना

आवश्यक प्रतीत होता है। यह इसलिए भी कि शोध विद्वानों के सामने एक शोध का विषय उपस्थित रहे और इस दिशा में प्रयास जारी रहें। इस तरह से राजस्थानी साहित्य की सम्पूर्ण विकास-यात्रा को चार भागों में ही बांटना श्रेयस्कर होगा। (1) अन्धकारमय युग (2) आरम्भकाल (3) मध्यकाल और (4) आधुनिक काल। आधुनिक काल को दो शीर्षकों में विभाजित करना भी उपयुक्त रहेगा। यथा (i) सन् 1857 से 1947 और (ii) सन् 1947 से आगे। परन्तु विद्यमान सूचनाओं एवं स्थिति को मध्यनजर रखें तो फिलहाल साहित्य के इतिहास के अध्ययन का प्रारम्भ 11वीं शताब्दी से ही शुरू करना सही प्रतीत होता है। इस सदी में जैन-साहित्य प्रचुर मात्रा में सामने आ जाता है। परन्तु पाँचवीं सदी से 10वीं सदी में राजस्थानी के विकास क्रम की बात विद्वानों का निरन्तर ध्यान आकर्षित करती रहेगी।

राजस्थानी साहित्य का एक युग अंधकार मे है अतः आरम्भकाल वहां से शुरू होता है जहां से राजस्थानी के बारे में रचनाएं मिलनी शुरू हुई अर्थात् वहां से शुरू होता है जहां से राजस्थानी साहित्य की रचनाएं मिली हैं। यह काल राजस्थानी की प्रतिस्थापना का काल है यह राजस्थानी के प्रारम्भिक इतिहास की खोज का काल है। यह काल शोधपूर्ण प्रयासों का परिणाम है। राजस्थानी की पहचान का एक युग इससे पूर्व अवश्य होगा जो अपूर्व साबित हो एवं काल विभाजन को एकदम ही बदल दे। परन्तु यह भी शोध का विषय है। इस स्थिति को तरफ इंगित करना आवश्यक है।

राजस्थानी साहित्य के विकास का आरम्भ काल 11वी शताब्दी से शुरू होता है। वो इसलिए कि इस काल मे जैन साहित्य काफी तादाद मे मिलने लग जाता है। यह साहित्य राजस्थानी की प्राचीन स्थिति और उसकी प्रवृत्ति को बतलाता है और परम्परा को प्रतिस्थापित करता है। राजस्थानी का इस समय का स्वरूप आज के स्वरूप से काफी भिन्न था। इसलिए विद्यार्थियों के लिए तो यह बात अटपटी-सी हो सकती है परन्तु प्रारम्भिक स्थिति सभी भाषाओं की ऐसी ही रही है। हिन्दी का प्रारम्भिक रूप आज की हिन्दी से काफी भिन्न है। ऐसी ही अँग्रेजी की स्थिति रही है। शेक्सपियर और उसके पहले की अँग्रेजी आज की अंग्रेजी से कितनी भिन्न है, पढ़ने से पता लग जाता है। राजस्थानी की अस्मिता का प्रारम्भ यही से स्थापित होता है।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि राजस्थानी के आरम्भ काल में जितनी रचनाएं मिलती हैं उतनी किसी भी भाषा के साहित्य के आरम्भ काल मे नही मिलती। इस युग मे राजस्थानी और गुजराती गूंथी हुई मिलती है। इसलिए राजस्थानी का यह साहित्य राजस्थानी और गुजराती दोनों की समान धरोहर या बपौती है।

सन् 1050 से लेकर कोई सौ वर्षों तक वैयक्तिक रचनाएं देखने को नही मिलतीं। इन सौ वर्षों मे फुटकर रचनाएं लिखी गई, जिनकी भाषा मारु-गुर्जर थी। यही मारु-गुर्जर प्राचीन राजस्थानी का स्वरूप है जिससे आगे चलकर दो स्वतन्त्र भाषाएं बनती है। परन्तु 12वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वैयक्तिक रचनाएं, भले ही वे आकार मे छोटी हों, प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होने लगती है। ये मुख्यतया जैनियों की रचनाएं है जो उनके धर्म प्रचार के साथ-साथ उस समय के सामाजिक और

सांस्कृतिक जीवन पर भी प्रकाश डालती हैं। इस काल में कोई 50 के लगभग जैन साहित्यकारों के ग्रन्थों का पता चलता है। जिनमें से जिनवल्लभ सूरि, वज्रसेन सूरि, शालिभद्र सूरि, नेमीचन्द भंडारी, विजयसेन सूरि, जिनेश्वर सूरि, विनयचन्द्र सूरि राजशेखर सूरि, विनयप्रभ, तरुणप्रभ सूरि, ज्ञान कलश, पृथ्वीचन्द आदि प्रमुख हैं। 'वज्रसेन सूरि' का 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर' राजस्थानी की प्राचीनतम रचना है जो 1168 के आसपास रची गई, इसकी भाषा मारु-गुर्जर है। यह रचना 48 पद्यों का एक छोटा परन्तु एक अच्छा वीर और शांत रस का काव्य है। इसके पश्चात् 'भरत-बाहुबलि रास' ग्रन्थ लिखा गया। जिसका रचनाकार राजस्थानी का सबसे पहला महत्वपूर्ण कवि शालिभद्र सूरि था। प्रो. नरोत्तम स्वामी इसका रचनाकाल संवत् 1241 बताते हैं। यह एक खण्ड काव्य है। यह देशी छंदों एवं राग-रागनियों में लिखा हुआ है। इन रचनाओं से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश का मारु-गुर्जर पर प्रभाव 12वीं शताब्दी तक रहा।

प्रारम्भकाल और मध्यकाल के बीच विभाजन रेखा यहाँ से खींची जाती है जहाँ से मरु भाषा यानि राजस्थानी गुर्जर भाषा से अलग होती है। इसके अलावा साहित्य की दृष्टि से भी इन दोनों काल खण्डों के बीच विभाजन रेखा खींची जाती है। प्रारम्भकाल में धर्मनिरपेक्ष रचनाएँ जैनियों और चारणों की मिलती है परन्तु मध्यकाल के सूत्रपात से दो नई धाराएँ आख्यान-काव्य और सन्त-साहित्य प्रगट होती हैं, फलती-फूलती हैं। 'कथा आहमनी' राजस्थानी आख्यान काव्य की पहली रचना कही जाती है तो जाम्भोजी राजस्थानी सन्त साहित्य के प्रथम बिन्दु बनते हैं। 'वचनिका अचलदास खीची री' मध्यकाल की प्रमुख रचना है। इसमें राजस्थानी गद्य का भी अच्छा उदाहरण मिलता है। इस काल में देवी करणी और पांच पीरों के प्रादुर्भाव से भक्ति काव्य की अच्छी रचनाएँ सामने आई है। ये सब तथ्य इस विभाजन की पुष्टि करने है, इसे पुख्ता करते है। मध्यकाल यानि 1450 से, लेकर 1850 तक जो साहित्य लिखा गया उसने हर क्षेत्र में नये आयाम दिए है।

आधुनिक काल ब्रिटिश राज और उसके प्रभाव से शुरू होता है। जिस प्रकार से मध्यकाल में मुगल साम्राज्य राजस्थानी साहित्य को प्रभावित करता रहा उसी तरह से ब्रिटिश राज ने राजस्थानी साहित्य को प्रभावित किया। इस वक्त पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार से बाहरी जगत से सम्बन्ध जुड़ने लगा और विज्ञान तथा तकनीकी की नई-नई जानकारी मिलने लगी। ब्रिटेन में हुई औद्योगिक क्रांति ने यहाँ के जन-जीवन को झकझोर दिया। इससे सोचने के तौर-तरीकों में और विचारधारा में तेजी से बदलाव आया। ब्रिटिश राज के तौर-तरीके 1850 के आसपास राजस्थानी कविता को प्रभावित करने लग जाते है। यहीं से आधुनिक काल की शुरुआत चिन्हित होती है।

इस तरह आरम्भ काल राजस्थानी रचनाओं की प्राप्ति और पहचान से शुरू होकर साहित्यिकता को परखने के साथ शुरु होता है। यह वहाँ तक कदम भरता

चलता है जहाँ तक राजस्थानी और गुजराती साथ-साथ चलती हैं और वहीं अपने पैर रोक लेता है जहां वे एक दूसरे से अलग हो जाती हैं। मध्यकाल की शुरुआत यहीं से चिन्हित होती है। मध्यकाल अपनी विशेषताओं को लिए वहाँ तक चलकर अपने पैर रोक लेता है जहां तक राजस्थानी अपने मूलरूप को पहचाने रखती है और पाश्चात्य ढंग से परे, अप्रभावित रहती है। जहां से यह प्रभाव अंकित होता है मध्यकाल रुक जाता है और आधुनिक काल अपने कदम भरने शुरू कर देता है। जहां राजस्थानी अपनी प्राचीन एवं मध्यकालीन प्रवृत्तियो को अलग रखकर नवीन प्रवृत्तियों में ढलने लग जाती है, नवयुग की शुरुआत होती है। इस वक्त गद्य-पद्य दोनों मे नवीन प्रवृत्तियाँ साफ दृष्टिगोचर होने लग जाती है। रचनाकारो ने अपनी कलम से, भाषा ने अपनी मांठ-मरोड़ और मीट के बदलाव से और युग ने अपने प्रभाव से इन कालखण्डों की विभाजन रेखाएँ दी हैं।

राजस्थानी साहित्य के आरम्भ काल का साहित्य तीन अलग-अलग शैलियो में मिलता है : जैन शैली, चारण शैली और लौकिक शैली। जैन शैली, जैन साहित्यकारो की अपनी रचनाओं मे अपनाई गई एक विशिष्ट शैली है। चारण-शैली, चारण साहित्यकारो द्वारा अपनाई गई अपनी शैली है, जिसकी अपनी पहचान भाषा और वर्णन के तौर-तरीकों तथा छंद आदि से है। लौकिक-शैली, इन दोनो से भिन्न शैली है जो कि लौकिक रचनाओं के रचनाकारों ने अपनाई है। सरसता, सरलता और सादापन इसकी अपनी विशेषताएँ है। आरम्भ काल का अध्ययन हम इन्ही तीन शैलियों के शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे।

जैन साहित्य

जैन साहित्य मुख्यतया धार्मिक साहित्य है। यह साहित्य गद्य और पद्य दोनों में मिलता है। इस वक्त का गद्य दो तरह का था। प्रथम मूल और दूसरा व्याख्या। इसी तरह इस काल के जैन पद्य साहित्य को चार भागो मे देखा जा सकता है—चरित-काव्य या कथा-काव्य, उत्सव-काव्य, नीति-काव्य और स्तुति-काव्य। चरित काव्यों में प्रसिद्ध पुरुषों के चरित्र और जीवनवृत्त को सामने रखकर रचना की जाती है। ऐसी रचनाओ को इस काल में कई नाम दिए गए, यथा-रास, चौपाई धवल, चर्चरी, प्रबन्ध, चरित, कथा आदि। उत्सव काव्य विशेष आयोजनों और उत्सवों से सम्बन्धित है, जिन्हे फाग, धमाल, बारहमासा, चौमासा, व्याहलो, मंगल आदि नाम दिए गए है। नीति काव्य की कविताएँ नैतिक व्यवहार और आचरण से सम्बन्धित है, जिनके नाम संवाद, कक्का, मातृका, बावनी, छत्तीसी आदि रखे गए है। स्तुति काव्य तीर्थंकरो की प्रशंसा में लिखे हुए काव्य है। ऐसी रचनाएँ आध्यात्मिक पुरुषों और पवित्र स्थानो पर रची मिलती है, जिनको स्तुति, स्तवन, विनती, नामकार, बीसी, चौबीसी आदि नाम दिए गए हैं।

जैन कवियों का मूल उद्देश्य आध्यात्मिक और धार्मिक रहा है। इनका मुख्य ध्येय नैतिक नव पीढ़ी का निर्माण रहा है। 'रास' जैन कवियों का मुख्य काव्य रहा है। इस वक्त रास काव्य राग-रागनियों और अपभ्रंश छंदों में लिखा जाता था। कहीं कहीं शृंगार और करुण रास भी मिलती है। राजस्थानी के उद्भव और विकास में जैन साहित्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह आरम्भ काल से लेकर अब तक निर्बाध रूप में मिलता है। 11 वीं से 14 वीं शताब्दी तक के साहित्य के इतिहास लेखन हेतु इसी साहित्य पर निर्भर रहना पड़ता है क्योंकि दूसरा प्रामाणिक साहित्य नहीं मिलता। जैन लोगों ने अपनी रचनाओं को नष्ट होने से बचा लिया परन्तु जैनेत्तर रचनाएँ बिना सहारे और सुरक्षा के काफी मात्रा में नष्ट हो गईं, जो थोड़ी-बहुत बची वे भी प्रकाश में नहीं आईं। इस तरह से आरम्भ काल में जैन साहित्य ही राजस्थानी की स्थिति, भाषा प्रवाह और प्रवृत्तियों को अंकित करता है, और अपना प्रमुख स्थान रखता है। इस काल की प्रमुख जैन कृतियों का परिचय नीचे दिया जा रहा है—

सच्च उरिय महावीर उत्साह—इस रचना का रचयिता कवि धनपाल था। इस उत्साह संज्ञक रचना में मारवाड के सांचोर में भगवान महावीर की जो मूर्ति है, उसे महमूद गजनी ने तोड़ने का प्रयास किया था परन्तु वह सफल न हो सका, इस घटना का ऐतिहासिक उल्लेख इस रचना में हुआ है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसमें महमूद गजनी के नाम का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है परन्तु इसके वर्णन के पूर्व के पद्यों में 'तुरक्क' शब्द आता है, जो इसी हेतु से प्रयुक्त हुआ है। यह 15 पद्यों की रचना है। इसमें प्राचीन जैन तीर्थ और मूर्ति सम्बन्धी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख होने की वजह से इस रचना का विशेष महत्त्व है। वैसे भी धनपाल महाकवि हुए हैं। उनकी रचना 'तिलक मंजरी' 'कादम्बरी' के टक्कर की कृति मानी जाती है। कवि धनपाल-विद्या-विलासी महाराजा भोज के सभा-पंडित थे। मूल रूप में ब्राह्मण थे, परन्तु जैन मुनियों की सतसंग से जैन बन गए बताए जाते हैं।

जिन दत्त सूरि स्तुति—इस ग्रंथ की रचना 12 वीं शताब्दी में हुई है। इसके रचयिता कवि पल्ह थे। इस ग्रंथ की कई ताड़पत्रीय प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। इसमें 10 छप्पय छंद हैं। भाषा अपभ्रंश प्रधान है।

भरतेश्वर बाहुबलि घोर—इस कृति के रचयिता वज्रसेन सूरि हैं जो देवसूरि के शिष्य थे। इस कृति में 48 पद्य हैं। इसका रचनाकाल 1168 ईस्वी के आस-पास रहा है। इसके पद्यों में भरतेश्वर बाहुबलि के युद्ध आदि का वर्णन है। इस ग्रंथ की कथा इस तरह है—प्रथम तीर्थंकर रिखवदेव के भरत और बाहुबलि सहित सौ पुत्र थे। मृत्यु नजदीक जान रिखवदेव अपना साम्राज्य अपने पुत्रों में बाँट साधु बन गए। चक्रवर्ती सम्राट बनने की लालसा में भरत ने अपने 98 भाइयों का

साम्राज्य तो छीन लिया परन्तु बाहुबलि उसके बस में नहीं आया। उसने खुले रूप से भरत का विरोध किया। भरत ने इस पर बाहुबलि पर आक्रमण किया परन्तु वह उसे पराजित न कर सका। भरत ने बाहुबलि को मारने के लिए 'चक्र' चलाया परन्तु वह चक्र ऐसा कि एक ही कुल के आदमी पर असर नहीं करे। फिर द्वन्द्व युद्ध हुआ। जिसमें बाहुबलि के काफी चोटें आई परन्तु उसने अपने छोटे भाई से हार नहीं मानी। परन्तु इस युद्ध से उसे विरक्ति सी पैदा हो जाती है और वह मुनि बन जाता है। अहंकार को छोड़ सब मंशाओं को त्याग देता है। भरत देश पर शासन करता है और वह आत्म-अनुमति की अवस्था पर पहुँच जाता है। इस कथा पर सर्वाधिक सशक्त और स्पर्श करने वाला काव्य **'भरतेश्वर बाहुबलि रास'** है। जिसकी रचना वज्रसेन सूरि के पट्टधर शालिभद्र सूरि ने की। यह रचना 1184 में लिखी हुई संवतोल्लेख वाली सबसे पहली राजस्थानी रचना है। इसमें 203 पद्य है। वस्तु, ठवणि, धवल, गटक आदि इस रचना में आए हैं। राजस्थानी साहित्य के आरम्भ काल में वीर काव्यों में यह रचना बहुत महत्त्वपूर्ण रचना मानी जाती है। भाषा प्रवाह और भाषा वैभव की दृष्टि से भी यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

बुद्धिरास—शालिभद्र सूरि रचित 'बुद्धिरास' लोकोपयोगी होने की वजह से काफी प्रचारित हुई है। इसमें भोले-भाले लोगों के लिए 'सिखामण' दी गई है। इसमें 63 पद्य है। लोक मे प्रशंसित होने की वजह से इसकी भाषा में कुछ परिवर्तन आ गया है। अम्बिका और गौतम स्वामी को नमस्कार करके कवि ने सद्गुरु के वचन से यह कृति बहुत ही सरल भाषा में रची है। कवि इसके लिए लिखता है कि इसके बोल लोक प्रचलित है, कुछ सद्गुरु के उपदेशो से लिए गए है। इसके पद्य यह शिक्षा देते है कि गहरे पानी में मत जाओ, अन्जान घर में वास मत करो, महानता के लिए स्पष्ट मत बोलो, रास्ते चलती औरत से झगड़ा मत करो। इस तरह से इस कृति में लोकोपयोगी शिक्षाओं को कवि ने पद्यबद्ध किया है तो गुरु के उपदेशों को भी काव्यगत रूप दिया है। इसके पद्य की बानगी द्रष्टव्य है—

जाणिउ धरमु जीव विणासु, अणजाणि ई घरिय करिसि वासु।
चोरी कारु चडई अणसीधी, वस्तु सु किमइ म लेसी अदीधी॥
परिघरि गोठि किमइ म जाइसि, कुडउ आलु तु महिया पामिसि।
जे घर हुइ एकलि नारि, किमइ न जाइसि तेह घरबारि॥
घर पच्छोकडि रामे छोडी, बरजे नारि जे बाहिरि हीडी।
पर-स्त्री वहिनि भणीनई माने, पर स्त्री वयण म धरजे काने॥

कृति की पद्य रचना सरस और सरल है। भाषा में आरम्भकाल की मह-भाषा की लाक्षणिकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। पद्य-बंध भी गेयता लिए हुए है।

जीवदयारास—भरतेश्वर बाहुबलि रास के पश्चात् संवतोल्लेख वाली रचना कवि 'आसिगु' रचित 'जीवदयारास' है। यह रचना 1200 ईस्वी मे लिखी गई। इसमें 53 पद्य है। इस रचना का कवि आसिगु जालोर का निवासी था, या फिर यहाँ उसका ननिहाल था, जिसकी वजह से वह जालोर आ गया था। इस कृति का कवि भक्त था। अपने नाम के आगे वह 'कवि' विशेषण लगाता। 'आसिगु' रचित 'चंदन बाला रास' नाम से एक और रचना मिलती है। 'जीवदया-रास' मे कवि ने अपना जो परिचय दिया है वह इस तरह है—

बाला मगि तणइ पाछोपड, वेहल महि नन्दन महिरोपइ।
तसु सखहं कुलचंद फलु, तरउ कुलि आसाइतु अच्छंतु।
तसु वलहिय पल्ली पवर, कवि आसिगु बहुगुण सजुतु॥

जीव दया के प्रभाव को बताने के लिए इस रास की रचना की गई है। परन्तु कवि ने इसमें जैन तीर्थों का भी वर्णन किया है। जिनमें साचोर, चड्डावलि, नागद्रह, फलवर्द्धि, जालोर आदि राजस्थान के है। कवि कहता है—संसार के सब मनुष्य समान है। जो दीन दुखियो को दान नही देते उन्हे दूसरों के यहाँ नौकरी करके अपना गुजर-बसर चलाना पड़ता है। यह कवि की अपनी धार्मिक प्रतिस्थापना है जो अपने काल के मनुष्य के सोच को बताती है।

'चंदनबालारास'—इसमें 35 पद्य है। इसमे सती चन्दन बाला और उसकी तरफ से भगवान महावीर को किए गए आहार-दान का प्रसंग वर्णित हुआ है। यह रास भी जालोर मे ही रचा गया था।

12 वी शताब्दी मे अधिक रचनाएँ नही आई परन्तु 13 वी शताब्दी और उसके आगे काफी सख्या मे तरह-तरह की रचनाएँ मिलने लग जाती है। उनमे से कुछ प्रमुख रचनाओ की चर्चा करना ही समीचीन होगा। ये प्रमुख रचनाएँ निम्न लिखित है—

जम्बूस्वामीरास—संवतोल्लेख वाली यह तीसरी राजस्थानी रचना है। महेन्द्रसूरि के शिष्य 'धर्म' ने 1209 मे इसकी रचना की। इसमे 41 पद्य है। इन पद्यों मे भगवान महावीर के शिष्य जम्बूस्वामी का चरित वर्णित है। जम्बूस्वामी की कथा बहुत ही मार्मिक है। शादी की पहली रात ही उन्होने अपनी आठ पत्नियों को 'प्रतिबोध' दिया परन्तु 'प्रभव' नामक चोर ने भी इन्ही के साथ यह प्रतिबोध सुन लिया और वह भी प्रतिबुद्ध हो गया। सुनने वालो मे उसके 500 चोर साथी और थे, वे भी सब प्रतिबुद्ध हो उनके अनुयायी बन गए। मजे की बात तो यह है कि ये चोर उनके घर मे चोरी करने के इरादे से आए थे। परन्तु उनका मानस एकदम बदल गया और वे सब इनके अनुयायी हो गए।

नेमिनाथ बारह मासा—अपभ्रंश मे सबसे प्राचीन बारहमासा 'जिन धर्म सूरि' कृत 'बारहनावउ' 13 वी शताब्दी की रचना है। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण

कृतियाँ 'पाल्हण' कवि रचित 'नेमिनाथ बारहमासा' और 'आबूरास' है। नेमिनाथ बारहमासा में 16 पद्य है। इसकी रचना 1233 ईस्वी में हुई। नेमिनाथ 22 वें तीर्थंकर हुए है। वे महाराजा समुद्र विजय के पुत्र थे। उनका विवाह उग्रसेन की पुत्री राजमती से होना तै हुआ था, परन्तु जब बारात उग्रसेन के महल में पहुँची तो नेमिनाथ को बंदी जानवरों और पक्षियों की करुण आवाज सुनाई दी, जिसका अर्थ था—बारात को भोजन कराओ। नेमिनाथ इन बेजुबान, निरपराध जानवरों व पक्षियों पर मनुष्य की क्रूरता से अत्यधिक दुःखी हो गए और गहरी संवेदना में डूब गए। उनको इन जानवरों व पक्षियों पर बहुत दया आई। इस घटना का असर उन पर यह हुआ कि वे साधु बनकर गिरनार पहुँच गए। राजमती को जब इस बात का पता लगा तो उसके दिल को भी बहुत ठेस लगी और उसने भी वही रास्ता अपनाने का विचार कर लिया।

नेमिनाथ बारहमासा मारु-गुर्जर कविता का पहला बारहमासा है। राजमती कभी नेमिनाथ से नहीं मिली। यह बारहमासा नायिका के साध्वी बनने के साथ सम्पूर्ण होता है।

आबूरास—पाल्हण कवि रचित यह 53 पद्यों की रचना है। आबूरास के 53 वें पद्य के अन्त में 'पाल्हण' नाम आता है। इसकी रचना भी 1233 में हुई है। इसमें आबू पर्वत पर मन्दिर निर्माण का वर्णन हुआ है।

शांतिनाथ देवरास—इस कृति के रचयिता लक्ष्मी तिलक उपाध्याय है। इसका रचनाकाल 1256 के आसपास है। इस कृति में जैन धर्म के 16 वें तीर्थंकर शांतिनाथ के जीवन-वृत्त का संक्षिप्त वर्णन हुआ है। इसमें कई ऐतिहासिक तथ्य भी उद्घाटित हुए हैं। कृति में खेडनगर में उद्धरणकारित शांति जिनालय की प्रतिष्ठा जिनपतिसूरिजी ने की, जालोर में उदयसिंह के राज्य में शांति जिनालय की प्रतिष्ठा जिनेश्वरसूरि ने की आदि तथ्य आए हैं। दोनों प्रतिष्ठाओं सम्बन्धी गद्य भी इन रचनाओं में आया है।

उपरिलिखित ग्रंथों के अलावा **'जिनेश्वरसूरि संयम श्री विवाहवर्णनरास'** नामक कृति भी एक उल्लेखनीय कृति है। जिस की रचना कवि 'सोममूर्ति' ने की। जिसमें जिनेश्वरसूरि के दीक्षा प्रसंग का वर्णन किया हुआ है। यह रास 33 पद्यों का है। कवि सोममूर्ति ने ही **'जिनप्रबोधसूरि चर्चरी'** नाम से 16 पद्यों की कृति की रचना की जिसमें जिन प्रबोध सूरि के आचार्य पद-स्थापन का उल्लेख है। 'चर्चरी' संज्ञक रचनाएँ बहुत कम मिली है।

कवि सोममूर्ति रचित दो रचनाएँ और प्राप्त हुई है—**'गुरावली रे तुंआ'** और **'जिनप्रबोधसूरि बोलिका'** ये क्रमशः 13 और 12 पद्यों की रचनाएँ है।

फागु काव्य—इस काल में कई फागु काव्य लिखे गए। इसी काल में 'राजशेखरसूरि' ने **'नेमिनाथ फागु'** की रचना की। इस कृति में राजमती के

शृंगार का वर्णन कवि ने काफी विस्तार से किया है। जिनपद्मसूरि ने 'थूलिभद्र फाग' की रचना की। अगरचन्द नाहटा इसके रचनाकार का नाम 'हलराज' बताते है। इस वक्त औरतें फाग खेलती और फागु काव्य रचे जाते। स्थूलिभद्र फाग की रचना 1333 में हुई। इस काल में काफी मात्रा में फागु काव्य रचे गए।

'पंचपांडवरास' और **'गौतमस्वामीरास'**—पूर्णिमागच्छ के शिष्य 'शालिभद्रसूरि' ने 'पचपाडवरास' को रचना की। इस कृति का रचनाकाल सन् 1353 है। सन् 1335 मे 'उपाध्याय विनय प्रभ' ने 'गौतम स्वामी रास' रचा। इसमे 45 पद्य है। ये दोनो ही रचनाएँ अपने काल की विशेष कृतियाँ मानी जाती है।

इस काल की जैन रचनाओ की चर्चा के पश्चात् अगरचन्द नाहटा ने 11वी से 15 वी शताब्दी तक के काल को राजस्थानी साहित्य का आरम्भ काल माना है। उनका मत है कि 16 वी शताब्दी से राजस्थानी और गुजराती में अन्तर काफी स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लग जाता है। इसलिए यही से ही मध्य काल का प्रारम्भ माना जाना चाहिए।

लौकिक प्रेम काव्य

राजस्थानी साहित्य के आरम्भ काल मे लौकिक विषयो को लेकर रचनाएँ सामने आई है। कवियो ने लौकिक विषयों को भी काफी छुआ है आचार्य 'हेमचन्द्र' रचित **'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन'** में, 'सोमप्रभसूरि' रचित **'कुमारपाल प्रतिबोध'** मे, आचार्य 'मेरुतुंग' रचित **'प्रबंध चिन्तामणि** मे और 'राजशेखर' रचित **'वद्दयान'** मे, 'प्रभाचन्द्र सूरि' रचित **'प्रबंध कोष'** में विविध पद्य मिले है जो अपभ्रंश मिश्रित देशी भाषा अथवा मारु गुर्जर के है जिनकी विषयवस्तु विविध है। प्रेम-भावना, दूरी, वीरता, बहादुर औरतो के स्वाभिमान और वैभव, विद्वत्ता आदि प्रचुर मात्रा मे वर्णित हुए है। **'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन'** के कुछ दोहे नीचे उद्धृत किए जाते है—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कंतु।
लज्जें जंति वयंसि अहु, जइ भग्गा घर जंतु ॥
वायसु उड्डावंतिअए, पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वळया महि हिगय, ऊद्धा फुट्ट तडत्ति ॥

प्रथम दोहे मे वीरता की भावना वर्णित है जो आगे चल कर राजस्थानी कविता में काफी पल्लवित-पुष्पित हुई है। दूसरे दोहे मे शृंगार की अतिशयोक्ति है जिसका पोषण भी राजस्थानी दूहाकारो ने अपने दूहो मे मध्यकाल में खूब किया है।

'कुमारपाल प्रतिबोध' के दोहो की बानगी भी द्रष्टव्य है—

पिउ हउं थक्कि सयलुदिलु, तुह विरहग्गि किलंत।
थोड़ई जल जिम मच्छलिय, तल्लो विल्लि करंत ॥

श्रम्हे थोड़ा रिउ बहुय, इउ कायर चिंतति।
मुद्धि निहालहि गयणलयु, कई उज्जोड करंति॥

प्रथम दोहे मे शृंगार और दूसरे दोहे मे रुकमणी-हरण के वक्त कृष्ण की तरफ से रुकमणी को दिया गया आश्वासन वर्णित है।

बीसलदेव रास—यह जन साधारण की भाषा में रचित छोटा सा प्रेम काव्य है। 'नरपति नाल्ह' इसके रचयिता है। नरपति नाल्ह ने अपने इस ग्रंथ की रचना-तिथि का वर्णन इस तरह किया है—

बारह सै बहोतरां मंझारि।
जेठ वदी नवमी बुधवारि॥
नाल्ह रसायण आर भई।
सारदा तूठि ब्रह्म कुमारी॥

परन्तु फिर भी इसके रचनाकाल पर मतभेद है। कई विद्वानों का मानना है कि इस ग्रंथ की रचना चौदहवी शताब्दी के प्रथम अर्द्ध भाग मे हुई है। विद्वानों का मत है कि दोहे मे वर्णित नवमी बुधवार का योग भी सही नहीं बैठता।

इस ग्रंथ के चार खण्ड हैं। इन खण्डों मे बीसलदेव का वर्णन किया गया है। इस रास की हिन्दी जगत में भी बडी चर्चा है। परन्तु इसके रचयिता 'नरपति नाल्ह' के बारे मे जानकारी नही के बराबर है। कोई उसे राजा मानते है तो कोई उसे भाट बताते है। परन्तु ये सब अनुमान ही अनुमान है। कोई सुदृढ ऐतिहासिक आधार अभी तक नही मिला है। अपने ग्रंथ में नरपति नाल्ह ने एकाध जगह 'व्यास' शब्द का प्रयोग किया है। व्यास जाति राजस्थान मे ब्राह्मण जाति मे मानी जाती है। इससे नरपति नाल्ह का ब्राह्मण होना स्पष्ट होता है। इससे सम्बन्धित पद्य नीचे उद्धृत किया जाता है—

व्यास वचन इम ऊचरई, दिन-दिन प्रतिपै बीसलराई।
नरपति व्यास कहइ कर जोड़ी, तो तूठा तैतीसा कोडि॥

इन पंक्तियों से नरपति नाल्ह का व्यास होना स्पष्ट है। बीसलदेव रास की कथा सरल है। राजा भोज की पुत्री राजमती अजमेर के राजा बीसलदेव को ब्याही थी। प्रथम बतलावन मे ही एक अनहोनी घटना घट गई। बीसलदेव को अभिमान था कि उसके जैसा दूसरा राजा नही है। यह सुनकर राजमती ने कहा कि आप जैसे राजा बहुत है। उनमें से एक तो उड़ीसा में है जिसके राज्य में हीरे पैदा होते है और आपके राज्य की सांभर झील में खारा नमक। यह सुनकर बीसलदेव उड़ीसा चला जाता है। बारह वर्षों तक वहाँ रहकर हीरे इकट्ठे करता है। अन्त में रानी राजा को बुलाने के लिए एक पुरोहित को भेजती है और राजा वापस आ जाता है। बीसलदेव रास मे बीसलदेव की उड़ीसा यात्रा और रानी का विरह वर्णित हुआ है। इसके चार खण्डों मे कुल

मृत्यु हो गई थी। फिर बच्छराज भी हंसराज के पास आ जाता है और वे सुख से रहने लग जाते है।

हंसावली का यह कथ्य एक अद्भुत विचार तत्व लिए हुए है। आदमी के नाम से घृणा करने वाली हंसावली में प्रेम का जागना और उसके पुत्र का चित्रलेखा से प्रेम करने लगना, पटरानी का युवराज को प्रेम-प्रस्ताव आदि उस काल की सामाजिक व्यवस्था की तरफ भी इशारा करते है। लौकिक रचनाओं में हंसावली अपनी इन्हीं विशेषताओं की वजह से लोकप्रिय बनी है।

औक्तिक रचनाएं—ये वे रचनाएं हैं जिनका मूल रूप तो संस्कृत में रचित है परन्तु उदाहरण तथा शब्दो और प्रयोगों के अर्थ मरु भाषा में दिए गए है। ऐसी रचनाओं को औक्तिक कहा गया। 'मुग्धाव बोध औक्तिक' औक्तिक रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इन रचनाओं मे इस काल की भाषा पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

भड्डली—आरम्भकालीन लौकिक काव्यों में भड्डली का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। भड्डली का रचनाकाल 14वीं शताब्दी माना जाता है। डाक और भड्डली के नाम से प्रसिद्ध वर्षा-विज्ञान सम्बन्धी पद्यों का प्रचार भारत के अनेक प्रान्तों में रहा है। बंगाल और आसाम में भी डाक के पद्य लोकप्रिय है। कहीं-कहीं पद्यों में डाक की औरत का नाम 'भडली', 'भडरी', 'भड्डरी' आदि रूपान्तरो में भी मिलता है। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

डक्क कहै सुण भड्डली, जळ बिन प्रिथमी जोय।

और कहीं मात्र भडुलि नाम से ही मिलते है। जैसे—

तो आसाढ़ में भडुलि, बरखा चोखी होय।

'डाक' की जगह कहीं 'घाघ' भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

उल्टा बादर जो चढ़े, विधवा खड़ी नहाय।
घाघ कहे सुन घाघनि, वह बरसै वह जाय॥

डाक और भड्डली के पद्य आज भी लोक मे प्रचलित है। वर्षा-विज्ञान सम्बन्धी पूर्वानुमान लगाने एवं वर्षा होने के अनुमानो हेतु लोगो के कंठो में अब भी ये पद्य उतर आते है। परन्तु कालान्तर में इनकी भाषा मे अन्तर आ गया है और कुछ रूप बदल गया है। जैसे—

तितर पंखी बादळी, विधवा काजळ रेख।
वा बरसै वा घर करै, इण में मीन न मेख॥

डाक भड्डली के पद्य वर्षा वैज्ञानिकों के लिए अध्ययन का अच्छा खासा विषय है। जिनके वैज्ञानिक अनुसन्धान से चमत्कारिक तथ्य सामने आ सकते हैं।

216 छन्द है। हिन्दी के विद्वानो ने इसे वीररस की कृति मान कर इसकी गणना वीरगाथा मे की है। परन्तु इस कृति में एक पंक्ति भी वीररस की नही है।

विरह की ये पंक्तियाँ उल्लेख करने योग्य हैं—

सूनि सेज विदेस पिय, दोइ दुख 'नाल्ह' क्यु सहंहणा जाइ।
ग्रामोजा घन मडीय ग्राम माड्या मन्दिर घरि कविलास ॥
माड्या चौग चउमडी, मांड्या सांभरि का रणिवास।
एक बनावँ वाहुड्या, नाह उतरी गयो गंगा के पार ॥

रानी के विरह और राजा के बुलाने की बात इन पंक्तियों से उद्घाटित होती है। बीसलदेव रास अपने समय के उत्कृष्ट प्रेमकाव्यो मे से है।

हंसावली—1370 ईस्वी में 'असाइत' रचित यह एक कविता है असाइत का जन्म सिद्धपुर मे हुआ था। ये औदिच्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम राजाराम था, जो स्वय ख्याति प्राप्त कथाकार हुए है। हंसावली एक छोटी सी काव्य रचना है। इसमें मुख्यत चौपाई छुन्द प्रयुक्त हुआ है। परन्तु बीच-बीच मे कही-कही दोहा भी काम मे लिया गया है। इसमे तीन अलग-अलग स्थितियो के तीन विरह गीत भी है। यह रचना बहुत ही सरस रचना है। कुछ बानगी नीचे दी जा रही है—

किलकिलती बन विचरती, बेलि दर बीसास।
सधि सामी साहस कीउ, हूं एकली निरास ॥
भणि असाइत भव अतरि, समरि सामणी कंत।
हंसाउलि धरती ढळी, पीउ पिउ मुखि भणति ॥

हसावली राजा की पुत्री का नाम है। इसके पिता का नाम सनकब्रहम था। राजा 'नरवाहन' ने हंसावली को एक दिन स्वप्न में देखा। उसी दिन से उसमे उसे अपनाने की चाह जगी, परन्तु हंसावली को तो आदमी के नाम से घृणा। शादी इस दशा मे कठिन काम। परन्तु नरवाहन के मन्त्री ने कैसे हंसावली को राजा से विवाह के लिए राजी कर लिया। उसने दो कुमारो बच्छराज और हंसराज को जन्म दिया। एक बार युवराज हंसराज को पटरानी लीलावती ने आग्रहपूर्ण प्रस्ताव भेजा। युवराज ने उसे अस्वीकार कर दिया। इस पर पटरानी ने युवराज के लिए मृत्यु दण्ड का आदेश भेजा। परन्तु प्राण दण्ड नही दिया जाता बल्कि उसे देश निकाला दे दिया जाता है। युवराज वन-वन भटकता बहुत दुख झेलता है। उधर उसका भाई युवराज वच्छराज सनकब्रहम की पुत्री चित्रलेखा से प्रेम करने लग जाता है। किसी तरह भाग्य से हंसराज को क्रांतिनगर का राज्य मिल जाता है जो किसी राजा का था परन्तु उसकी

मृत्यु हो गई थी। फिर बच्छराज भी हंसराज के पास आ जाता है और वे सुख से रहने लग जाते है।

हंसावली का यह कथ्य एक अद्‌भुत विचार तत्व लिए हुए है। आदमी के नाम से घृणा करने वाली हंसावली में प्रेम का जागना और उसके पुत्र का चित्रलेखा से प्रेम करने लगना, पटरानी का युवराज को प्रेम-प्रस्ताव आदि उस काल की सामाजिक व्यवस्था की तरफ भी इशारा करते है। लौकिक रचनाओं में हंसावली अपनी इन्ही विशेषताओं की वजह से लोकप्रिय बनी है।

औक्तिक रचनाएं—ये वे रचनाएँ है जिनका मूल रूप तो संस्कृत मे रचित है परन्तु उदाहरण तथा शब्दो और प्रयोगों के अर्थ मरु भाषा में दिए गए हैं। ऐसी रचनाओं को औक्तिक कहा गया। 'मुग्धावबोध औक्तिक' औक्तिक रचनाओं मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इन रचनाओं मे इस काल की भाषा पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

भड्डली—प्रारम्भकालीन लौकिक काव्यों मे भड्डली का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भड्डली का रचनाकाल 14वी शताब्दी माना जाता है। डाक और भड्डली के नाम से प्रसिद्ध वर्षा-विज्ञान सम्बन्धी पद्यों का प्रचार भारत के अनेक प्रान्तों में रहा है। बंगाल और आसाम में भी डाक के पद्य लोकप्रिय है। कहीं-कहीं पद्यों मे डाक की औरत का नाम 'भडली', 'भडरी', 'भड्डरी' आदि रूपान्तरों में भी मिलता है। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे है—

डक्क कहै सुण भड्डली, जळ बिन प्रिथमी जोय।

और कही मात्र भडुलि नाम से ही मिलते है। जैसे—

तो आसाढ़ में भडुलि, बरसा चोखी होय।

'डाक' की जगह कही 'घाघ' भी प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

उल्टा बादर जो चढै, विधवा खड़ी नहाय।
घाघ कहै सुन घाघनि, वह बरसै वह जाय॥

डाक और भड्डली के पद्य आज भी लोक में प्रचलित है। वर्षा-विज्ञान सम्बन्धी पूर्वानुमान लगाने एवं वर्षा होने के अनुमानों हेतु लोगो के कंठों में अब भी ये पद्य उतर आते है। परन्तु कालान्तर में इनकी भाषा में अन्तर आ गया है और कुछ रूप बदल गया है। जैसे—

तितर पंखी बादळी, विधवा काजळ रेख।
या बरसे वा घर करै, इण मे मीन न मेख॥

डाक भड्डली के पद्य वर्षा वैज्ञानिकों के लिए अध्ययन का अच्छा खासा विषय है। जिनके वैज्ञानिक अनुसन्धान से चमत्कारिक तथ्य सामने आ सकते हैं।

चारण काव्य

11वी शताब्दी से लेकर 14वी शताब्दी तक चारण काव्य के पद्य छुटे-बिछुडे हेमचन्द्र की अपभ्रंश व्याकरण और जैन प्रबन्ध काव्यों में मिलते है। इन पद्यो में दूहा और सोरठा प्रमुख है। 'पुरातनपद्य प्रबंध' में रामचन्द्र चारण के दो पद्य यहा द्रष्टव्य है—

काहूं मति विभंतड़ी, अजीय भणिअड़ा गुणेह।
अखय निरंजण परम पया, अजय जय न लहेह॥
अम्हे थोडा रिपु घणा, इय कायर चिंतंहि।
मुद्धि निहालउ गयणयलु, के उज्जोड करंति॥

'प्रबंध चिन्तामणि' से भी यह पद्य उल्लेखनीय है—

देव अम्हारी सीख, कीजइ अवगणि अइ नही।
तू चालंती भीख, इणि मंगिहि हुस्यइ सही॥

रणमल छंद और श्रीधर व्यास—श्रीधर व्यास इस काल का विशिष्ट कवि हुआ है। जिसने चारण काव्य में ऐतिहासिक और वीरत्व की कविताएँ लिखी। यह ईडर के राठौड राजा रणमल का समकालीन था। श्रीधर व्यास ने 'रणमल छन्द' नामक छोटे परन्तु प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ मे पाटण के सूबेदार जफरखा और रणमल के बीच हुई लड़ाई का वर्णन हुआ है। 'रणमल छन्द' मे 70 पद्य है। इसकी भाषा अलंकारमयी और सजीव है। यह वीर रस की उत्कृष्ट रचना है, इस रचना के पद्य की बानगी नीचे दी जाती है—

दमदमकार दमाम दमक्कइ, ढमढम ढमढम ढोल ढमक्कई।
तरवर तरवर वेस पहट्टर, तरतर तुरक पड़ई तलहट्टई॥
विसर विरंग पसरइ, रहि रहिमान मनन्तररि ममरइ।
गह गुज्जार निमाज कराणी, हुयमर भीज फिरइ सुरताणी॥

श्रीधर व्यास ने इन पंक्तियों मे चारण शैली में उत्कृष्ट युद्ध वर्णन किया है। 'रणमल छन्द' इस काल की उच्चकोटि की रचनाओं में से है।

वीरमायण—कही इस कृति को 'वीरमाण' कही 'वीरवांण' कहा जाता है, परन्तु इसका सही नाम 'वीरमायण' है। इसका रचयिता 'बादर' जाति से मुसलमान ढाढी था। इसमे मंडोवर के राव मल्लिनाथ के पुत्र जगमाल और उसके भतीजे 'वीरम' की वीरता का बखान है। इसमें वीरम और जोइयों के बीच हुई लड़ाई का वर्णन है जो 1390 ईस्वी के आसपास लखबेरा नामक रणक्षेत्र में लड़ी गई थी। इस लड़ाई में वीरम वीरतापूर्वक लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त होता है। इस कृति में 'नीसाणी' छन्द काम मे लिया गया है। इसका दूसरा नाम 'नीसाणी वीरमायण री' है। इस कृति मे 285 पद्य है। यह वीर

रस की बहुत ही सजीव कृति है। कृति की भाषा फड़कती हुई है। कुछ बानगी यहां द्रष्टव्य है—

सुत च्यारू सळमैस रे, कुळ में किरणाळा।
राजस बंका राठवड़ वर वीर वड़ाळा॥
साथ लियां दळ सामठा, विरदां रखवाळा।
भिड़िया भारथ भीम सा, दळ पारथ वाळा॥
देस दसूं दिस दाबिया, कीधां धक चाळा।
अरि ग्रोदाहां उड गया, कई ताळ विभाळा॥

इस रचना का रचनाकाल 15वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। इसमें दोहा का बहुत ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। इस ग्रन्थ के पद्य राठौड़ों के इतिहास का स्त्रोत है। इस कृति की कविता में राठौड़ों के उत्थान, विस्तार और जोहियों के पतन का 'रिकार्ड' सुरक्षित है। प्रमुख कथा 'वीरम' और जोहियों के करतबों के चारों तरफ चलती हुई रची है।

वीरमायण के अतिरिक्त 'सप्तमती' नाम से भी एक काव्य-रचना मिलती है। जिसमें वीरता की कविताएँ हैं। यह कृति 'दुर्गा सप्तमती' पर आधारित है। जो स्वयं मार्कण्डेय पुराण का एक भाग है। इस तरह इसमें कोई मौलिक कथानक नहीं है। फिर भी प्राचीनता, भाषा, शैली और परम्परा की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। कवि ने कथा के बजाय तरह-तरह के वर्णन करने में बहुत दिलचस्पी इस काव्य-कृति में दिखलाई है। कथा का जुड़ाव कमजोर प्रतीत होता है। परन्तु ये ही विशेषताएँ आगे चलकर 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' में आई है।

चारण शैली 'कवित्त भागवत्' में भी देखी जा सकती है। यह कृति भागवत् पुराण के दसवें स्कन्ध पर आधारित है। ये कविताएँ चारण शैली की प्रारम्भिक रचनाएँ कही जा सकती है।

अचलदास खींची री वचनिका—चारण शिवदास गाडण इस वचनिका का रचयिता है। उन्होंने राजाश्रय में रहकर इस कृति की रचना की है। कोटा रियासत में 'गागरुण' का शासक अचलदास इस वचनिका का नायक है। इस में पद्य और गद्य के 119 'सेट्स' है। भाषा, साहित्य-परम्परा की दृष्टि से यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है।

'अचलदास खींची री वचनिका'-शौर्य और मान-मर्यादा से अनुप्राणित वीर रस प्रधान काव्य है। जिसमें शिवदास गाडण ने खुद युद्ध में उपस्थित हो यथार्थ से गहरा सम्बन्ध रखने वाला आँखों देखा रोमांचकारी दृश्य उपस्थित किया है। मांडू के मुसलमान सुल्तान होशंगशाह घोरी और गागरोनगढ़ के राजा

11वीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी तक चारण काव्य के पद्य छुटे-विछुड़े हेमचन्द्र की अपभ्रंश व्याकरण और जैन प्रबन्ध काव्यों में मिलते है। इन पद्यों में दूहा और सोरठा प्रमुख हैं। 'पुरातनपद्य प्रबंध' में रामचन्द्र चारण के दो पद्य यहां द्रष्टव्य है—

काहूं भति विभंतड़ी, अजीय मणिअड़ा गुणेह ।
अखय निरंजण परम पथा, अजय जय न लहेह ॥
अम्हे थोडा रिपु घणा, इय कायर चिंतहि ।
मुद्धि निहालउ गयणयलु, के उज्जोड करंति ॥

'प्रबंध चिन्तामणि' से भी यह पद्य उल्लेखनीय है—

देव अम्हारी सीख, कीजइ अवगणि यइ नहीं ।
तूं चालंती भीख, इणि मंगिहिं हुस्यइ सही ॥

रणमल छंद और श्रीधर व्यास—श्रीधर व्यास इस काल का विशिष्ट कवि हुआ है। जिसने चारण काव्य में ऐतिहासिक और वीरत्व की कविताएँ लिखी। यह ईडर के राठौड़ राजा रणमल का समकालीन था। श्रीधर व्यास ने 'रणमल छन्द' नामक छोटे परन्तु प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में पाटण के सूबेदार जफरखां और रणमल के बीच हुई लड़ाई का वर्णन हुआ है। 'रणमल छन्द' मे 70 पद्य है। इसकी भाषा अलंकारमयी और सजीव है। यह वीर रस की उत्कृष्ट रचना है, इस रचना के पद्य की बानगी नीचे दी जाती है—

दमदमकार दमाम दमक्कइ, ढमढम ढमढम ढोल ढमक्कई ।
तरवर तरवर वेस पहट्टइ, तरतर तुरक पड़ई तलहट्टई ॥
विसर विरंग पसरइ, रहि रहिमान मनन्तररि समरइ ।
गह गुज्जार निमाज कराणी, हयमर भोज फिरइ सुरताणी ॥

श्रीधर व्यास ने इन पंक्तियो में चारण शैली मे उत्कृष्ट युद्ध वर्णन किया है। 'रणमल छन्द' इस काल की उच्चकोटि की रचनाओं में से है।

वीरमायन—कही इस कृति को 'वीरमाण' कही 'वीरवाण' कहा जाता है, परन्तु इसका सही नाम 'वीरमायण' है। इसका रचयिता 'बादर' जाति मुसलमान ढाढी था। इसमे मंडोवर के राव मल्लिनाथ के पुत्र जगमाल उसके भतीजे 'वीरम' की वीरता का बखान है। इसमे वीरम और जोइयों बीच हुई लड़ाई का वर्णन है जो 1390 ईस्वी के आसपास लखवेरा नाम रणक्षेत्र मे लड़ी गई थी। इस लड़ाई में वीरम वीरतापूर्वक लड़ता हुआ वीरग को प्राप्त होता है। इस कृति में 'नीसाणी' छन्द काम मे लिया गया है। इस दूसरा नाम 'नीसाणी वीरमायण री' है। इस कृति में 285 पद्य है। यह व

रस की बहुत ही सजीव कृति है। कृति की भाषा फड़कती हुई है। कुछ बानगी यहां द्रष्टव्य है—

सुत च्यारू सळमैस रै, कुळ में किरणाळा।
राजस बंका राठवड़ वर वीर वड़ाळा ॥
साथ लिया दळ सामठा, विरदां रखवाळा।
भिडिया भारथ भीम सा, दळ पारथ वाळा ॥
देस दसूं दिस दाबिया, कीधां धक चाळा।
अरि ओदाहां उड गया, कई ताळ विभाळा ॥

इस रचना का रचनाकाल 15वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। इसमे दोहा का बहुत ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। इस ग्रन्थ के पद्य राठौड़ों के इतिहास का स्त्रोत है। इस कृति की कविता मे राठोड़ो के उत्थान, विस्तार और जोहियो के पतन का 'रिकार्ड' सुरक्षित है। प्रमुख कथा 'वीरम' और जोहियों के करतबो के चारो तरफ चलती हुई रची है।

वीरमायण के अतिरिक्त 'सप्तसती' नाम से भी एक काव्य-रचना मिलती है। जिसमें वीरता की कविताएँ है। यह कृति 'दुर्गा सप्तसती' पर आधारित है। जो स्वयं मार्कण्डेय पुराण का एक भाग है। इस तरह इसमे कोई मौलिक कथानक नही है। फिर भी प्राचीनता, भाषा, शैली और परम्परा की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। कवि ने कथा के बजाय तरह-तरह के वर्णन करने में बहुत दिलचस्पी इस काव्य-कृति मे दिखलाई है। कथा का जुड़ाव कमजोर प्रतीत होता है। परन्तु ये ही विशेषताएँ आगे चलकर 'वेलि क्रिसन रूकमणी री' में आई है।

चारण शैली 'कवित्त भागवत्' मे भी देखी जा सकती है। यह कृति भागवत् पुराण के दसवें स्कन्ध पर आधारित है। ये कविताएँ चारण शैली की प्रारम्भिक रचनाएँ कही जा सकती है।

अचलदास खींची री वचनिका—चारण शिवदास गाडण इस वचनिका का रचयिता है। उन्होने राजाश्रय में रहकर इस कृति की रचना की है। कोटा रियासत मे 'गागरूण' का शासक अचलदास इस वचनिका का नायक है। इस में पद्य और गद्य के 119 'सेट्स' है। भाषा, साहित्य-परम्परा की दृष्टि से यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है।

'अचलदास खीची री वचनिका' शौर्य और मान-मर्यादा से अनुप्राणित वीर रस प्रधान काव्य है। जिसमें शिवदास गाडण ने खुद युद्ध में उपस्थित हो यथार्थ से गहरा सम्बन्ध रखने वाला आंखों देखा रोमांचकारी दृश्य उपस्थित किया है। मांडु के मुसलमान सुल्तान होशंगशाह घोरी और गागरोनगढ़ के राजा

भोज के पुत्र अचलदास खीची के मृत्यु-पर्यन्त युद्ध का वर्णन इस वचनिका मे है। बहादुर राजपूत स्त्रियों ने जोहर किया, उसका बहुत ही रोचक वर्णन इस वचनिका मे हुआ है। गागरोन पर यह आक्रमण 1423 मे हुआ था। इस वचनिका का रचनाकाल 1430-35 के आस-पास रहा है। वचनिका में कथानक दो भागों मे बँटा हुआ है। एक भाग युद्ध का है और दूसरा जोहर का। इतिहास से तो कई भ्रम फेंके जा सकते है परन्तु शिवदास गाडण ने जगह-जगह ऐतिहासिक सत्य की रक्षा की है, और ऐसा कर इस कृति का महत्त्व बढ़ाया है। पूरी कृति 'कविता' और 'बात' दोनो शैलियों में लिखी गई है। रचना का प्रारम्भ कवि ने युद्ध की स्वामिनी महादेवी भैरवी और विद्या की देवी सरस्वती-दोनों को नमस्कार कर, किया है। कवि ने सरस्वती के पूर्व दुर्गा को शीश नवाया है। इससे इस कृति की युद्ध-प्रधान प्रवृति और चारण शैलीपन साफ स्पष्ट हो जाता है। हाथी और सिंह की तुलना का एक पद्य उल्लेख करने योग्य है—

अथ दूहा अेक कुण्डलिया अेक

अेकइ वनि वसंतडा एवड़ अन्तर काइ
सीह कवड्डी नाल है गैंवर लाखि बिकाइ
गैंवर गळिइ गळथियो जइ खंचै तंह जाइ
सीह गळथण जे सहे तउ दह लाखि बिकाइ
तउ दह लाखि विकाइ मोल जाणवि मूहगेरा
कडवा का रणि कथिन कोपि खड दालिम केरा
वेढ़ि कीध पड़िय रनि हसि कटारउ दुहुकर
राइ न ग्रहण नरसंघ गळह गळहथ जड गैंवर।

कवि ने योद्धाओं की वीरता और मारकाट के अनेकों साकार और रोमांच कारी दृश्य खेंचे है। वर्णन की चित्रात्मकता और सजीवता 'रसावला' और 'गाहा' छंदो में देखते ही बनती है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

अथ रसावला

बिहु छेडि बाणावळी, सर पुंडिग सळळी
अणी अणी अतुळी रण खगांखळी
रुधिर धार रळतळी, बहु नाचे कुमंध महाबली
आळझे आंगावळी, आलम अचलेसर पड़या विनै इम संगमळी
सहै कुण सुभरी, अेक अेक ऊपरी
लागइ लागइ खरी, ढाह नह ठाठरी
दिन रात न जाणइ दूसरी, नीद भूख त्रिस बीसरी
खीदाळि खीची खरी सेंन बिबे इम संमिरी।

अथ गाह

इण पहि सहत देई लूटै
पग पग ग्रड़े पग ग्रवहट्टै
ग्रा.अम ग्रचलसैन ग्रवहट्टै
कनक जिहि रहि रहि कसवट्टै

इस भयंकर मारकाट ग्रौर प्राण-प्रण से लड़ते राजपूतों के सामने इस युद्ध मे सुल्तान की सेना की जीत होती नही दिखी। परन्तु अंत में डूंगरसिंह, मोकल सिंह, पालणसिंह जैसे विकट योद्धाओं को सुल्तान के युद्ध-तरीकों के सामने झुकना पड़ा और अचलेश्वर स्वयं वीर गति को प्राप्त हुआ। परन्तु मरते वक्त भी उनके कानों में ये ही स्वर थे --राजपूत पुरुष और वीरांगनाएँ जीवित रूप में मुसलमानों के सामने ग्रात्मसमर्पण नही करेंगे। कवि ने समस्त रानियों को जौहर की धधकती ज्वाला में स्नान कराया। 'हरि-हरि' और 'विसन-विसन' कह वे ज्वाला में कूद पड़ी--

जउहर जालणहारि ग्रजइ जळई ताइ ऊवरै
हरि हरि हरि होई रह्यो विसन-विसन तरिण वारि।

वचनिका का यह बहुत ही मार्मिक स्थल है। अग्नि-स्नान का यह दृश्य बहुत रोमान्चकारी है। बहुत ही हृदयस्पर्शी है यह वर्णन-वचनिका का यह चरमोत्कर्ष है।

वचनिका का पद्य ही नही गद्य भी बहुत सुन्दर ग्रौर कलात्मकता लिए हुए है। एक बानगी अवलोकनीय है--

अथ बात

अेक सीह नै पाखर्‌यो। सूर सिहां इनि ग्रादर्‌यो। पंचामृत ग्रमी परगह्यो। महादान ग्राछड़ धड़ड़। दूध मांहि साकर पड़े। सोनो ग्रर सुवास अेक ग्रचळ कथै सिवदासु।

सैन्य वर्णन भी उल्लेखनीय है--

इरस्यौ खडदा गम गोरी राजा बारह लख माळवा रो चकरवरती। तरै तेपाण लाख माळवा रा कटक बंधै। ते कटकबंध रउ ग्रारंभ पारंभ गरवातन गडावर। तइ कटक बंध मांहि तउ कहि दिखाळइ। महाधर तउ कडण-कडण-मीयां उसमाखान, फतहखान..........।

वचनिका की शैली डिंगल है। 'ग्रचलदास खीची री वचनिका' चारण काव्य मे एक मील का पत्थर है। इसी समय से राजस्थानी गुजराती से अलग होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाती है।

पृथ्वीराज रासो--पृथ्वीराज रासो के रचयिता 'चन्दबरदाई' की जीवनी इतिहास में उलझी एक पहेली बन गई है। कवि की विशाल ख्याति को देखकर राजस्थान मे कई ऐसे व्यक्ति हो गए जो अपने आपको 'चंद' की सन्तान बताने लगे। कइयों ने तो फाड़ने योग्य वंशावलियां भी बना ली है।

'चंद' जाति से राव था। इसका जन्म, रासो में, लाहौर, में होना लिखा है। रासो में यह भी लिखा है कि पृथ्वीराज और चन्द का जन्म एक ही दिन हुआ था। इतिहासकार पृथ्वीराज का जन्म 1163 ईस्वी (सं. 1220) के आस-पास और मृत्यु 1192 (स. 1249) निश्चित करते है। पृथ्वीराज रासो के अनुसार यह ही समय चद का सही बैठता है।

पृथ्वीराज रासो कब रचा गया था, यह तो ठीक-ठीक नही कहा जा सकता, परन्तु इस सम्बन्ध मे प्रथम प्रामाणिक उल्लेख 'राज प्रशस्ति' महाकाव्य में मिलता है। राज प्रशस्ति की रचना सं. 1718 मे शुरू हुई और पूर्ण सं. 1738 मे हुई है। इसलिए यह ही समय पृथ्वीराज रासो का रहा होगा। परन्तु डॉ. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा इसका रचनाकाल 1600 के आसपास बताते हैं। डॉ. मोती लाल मेनारिया इसका रचनाकाल 1700 और 1732 के बीच बताते है। परन्तु इसके रचनाकाल के विषय मे अभी ठोस प्रमाण नहीं मिले हैं जिनसे कि कृति का रचनाकाल स्थिर किया जा सके।

इतिहासकार तो 'चद' के अस्तित्व पर भी शका रखते है। कइयों का मानना है कि 'चंद' नाम का कोई कवि हुआ ही नही। परन्तु पृथ्वीराज रासो अमर काव्य है। 'चंद' का नाम इस अमरत्व से जुडा हुआ है और जुडा रहेगा।

पृथ्वीराज रासो मे चहुंवाण महाराजा पृथ्वीराज का जीवन चरित वर्णित है। ऐतिहासिक संदिग्धता होते हुए भी साहित्यिक दृष्टि से पृथ्वीराज रासो अपूर्व ग्रंथ है। यह एक महाकाव्य है। इसमें एक लाख छंद और 69 प्रस्ताव हैं। पृथ्वीराज रासो पिंगल शैली का महाकाव्य है। इसमे दूहा, साटक पद्धरि, गाहा, तोमर, भुजगी आदि अनेकों छद प्रयुक्त हुए है। पृथ्वीराज रासो में वीर रस प्रधान और बाकी रस गौण है। एक बानगी यहां प्रस्तुत है—

वीर हक्क वर वज्जि थंभ फट्टयों धर फट्टिय।
निडर जोन निब्बरिय लयो मृगकस्य दबट्टिय ॥
धरनि धूरि धुंधरिय तीन भुवनं परिभग्गिय।
भयो सद्द हंकार जोग, माया ते जग्गिय ॥

'रासो' मे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं के शब्द भी काफी मात्रा में आए है। पृथ्वीराज रासो में संध्या, रात्रि, प्रभात, चन्द्रमा, मृगया, वन, ऋतु, संभोग, विप्रलम्भ, विवाह, रण-प्रयाण आदि का यथा स्थान सुन्दर वर्णन हुआ है। चन्द की प्रतिभा इसमें बहुत ही विलक्षण रूप मे उजागर होती है। कथा को लडी मे पिरोने और पात्रो के सजीव चित्र चित्रित करने मे चन्द को 'महारत' हासिल थी। रासो मे महाकाव्य की भव्यता और दृश्य काव्य की सजीवता विद्यमान है।

रासौ में मुसलमानों की धर्मान्धता, और बर्बरता, राजपूतों के शौर्य, उनकी डावांडोल राजनैतिक स्थिति और उनके पतन आदि का जैसा मार्मिक, स्वाभाविक और क्षोभपूर्ण वर्णन हुआ है वैसा दूसरी जगह दुर्लभ है। कहने को तो रासौ पृथ्वीराज का जीवन-चरित्र है परन्तु असलियत में यह हिन्दू-मुसलमानों के संघर्ष की अमर कहानी है।

खुमाण रासौ—खुमांण रासौ दलपत विजय द्वारा रचित है। इस ग्रंथ में बप्पा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक के मेवाड के राजाओं का वर्णन है। खुमाण का वृतांत अधिक विस्तार से होने की वजह से इसका नाम खुमांण रासौ रखा गया है। यह 'रासौ' आठ खण्डों में विभाजित है। इसकी रचना पिंगल शैली में हुई है।

विजयपाल रासौ—नल्हसिंह के नाम से प्रचलित विजयपाल रासौ में यह उल्लेख मिलता है कि इसका रचयिता नल्हसिंह सिरोहिया शाखा का भाट था और यह विजयगढ (करौली रियासत) के यदुवंशी नरेश विजयपाल के आश्रित था। विजयपाल रासौ पूरा उपलब्ध नहीं है। जितना उपलब्ध है उसमें विजयपाल की विजय और पग की लड़ाई का वर्णन हुआ है। इस ग्रंथ में विजयपाल के राज्य का विस्तार गजनी, ईरान, काबुल, दिल्ली, ढूंढाड, अजमेर आदि में होना बताया गया है जो एकदम गलत है। इससे लगता है कि यह विजयपाल के समय की रचना नहीं है। मिश्र बंधु इसका रचनाकाल 1298 (सं. 1355) के आस-पास बताते हैं। इसकी भाषा-शैली पर पृथ्वीराज रासौ और वंश-भास्कर दोनों का प्रभाव है। इससे लगता है कि यह 1853 के आस-पास रचा गया होगा। इस ग्रंथ में 42 छंद है, 8 छप्पय, 18 मोती दाम, 8 पद्धरि, 6 दोहा और 8 चौपाइयां है। वीर रस का इसमें अच्छा वर्णन हुआ है।

राउल वेल—राजस्थानी साहित्य के आरम्भ काल में वेलि परम्परा इस वेलि से देखी जा सकती है। 'राउल वेलि', वेलि साहित्य की पहली साहित्यिक वेलि है। इस वेल में छः नायिकाओं के नख-शिख वर्णन है। ये नायिकाएँ कुलचूरि वंश के किसी सामन्त की स्त्रियां थीं। ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी में कुल चूरि वंश के राजाओं का राज्य था। 'राउल वेल' के रचयिता का नाम 'रोडो' नामक कवि था (रोडें राउलवेल वखाणी)। यह कौन था, इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त नहीं हैं। परन्तु इस रचना का रचनाकाल अवश्य 11वी शताब्दी रहा है। इस वेल में 46 पद्य है। इसकी नायिकाएँ नव विवाहित स्त्रियां या फिर दासियां है। इसकी एक से पांच तक की पंक्तियों में पहली नायिका का चित्रण है, दूसरी नायिका कोई 'हूणि' है, तीसरी नायिका 'राउल' नाम की कोई कन्या है, चौथी नायिका का नाम 'टिक्कणी' है, पांचवी कोई 'गोड़ी' है और छठी नायिका कोई 'मालवीया' नाम की

श्रौरत है। इस बेल की भाषा श्रलंकृत है। इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह आदि अलंकार श्राए है। नख-शिख की कवि ने जो कल्पना की है वो बहुत ही अनूठी है।

जिनचंद्रसूरि फागु—यह फागु काव्यों में सबसे पहली रचना है इसमें 25 पद्य है। संवत् श्रौर रचनाकार का नाम अज्ञात है। 'फागु' शीर्षक से श्रागे चलकर काफी रचनाएँ देखने को मिलती है। ऐसी रचनाएँ इस काल में काफी रची गई है।

श्रारम्भकाल पर एक नजर—

जैन साहित्य में रचता-बसता श्रारम्भकाल श्राम जनता से जुड़कर श्रौर चारण शैली को स्पर्श करता साहित्य की सारी धरोहर मध्यकाल को दे देता है। मध्यकाल कैसे-कैसे इसका उपयोग करता है, सजाता-संवारता है, आदि बातों का अध्ययन करने से पहले श्रारम्भकाल पर एक नजर डाल लेना समीचीन होगा।

श्रगर सम्पूर्ण श्रारम्भकाल पर दृष्टिपात करें तो कुछ मुख्य प्रवृत्तियाँ स्पष्ट नजर आने लगेगी। ये प्रवृत्तियाँ श्रारम्भकालीन साहित्य की विशेषतायें बनी भी दिखेंगी श्रौर कई साहित्यिक परम्पराश्रों का श्रारम्भ भी श्रारम्भकाल की जमीं पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा जिनसे राजस्थानी साहित्य विश्व में प्रसिद्ध हुआ। यही नहीं कई साहित्यिक परम्पराएँ भी स्पष्ट दिखाई देंगी जिन्हें मध्यकाल ने बड़े चाव से अपनाया श्रौर सजाया, संवारा। इन प्रवृत्तियों का अध्ययन एक-एक कर नीचे किया जा रहा है—

श्रारम्भकाल पर दृष्टिपात करे तो प्रथम प्रवृत्ति तो यह दिखाई पड़ेगी कि इस काल में जैन कवियों ने प्रबन्ध-ग्रन्थ रचने में काफी रूचि दिखाई। 1133 ईस्वी में उदयप्रभसूरि ने 'प्रबंधावली' नाम से प्रबन्ध ग्रन्थ रचा, फिर 1297 में प्रभाचन्द सूरि रचित 22 प्रबन्धों का 'प्रभावक-चरित' प्रबन्ध-ग्रन्थ सामने आता है। 1304 ईस्वी में 'प्रबन्ध चिन्तामणि' रचा जाता है तो 1348 मे राजशेखर 'प्रबन्ध-कोस' की रचना करते है। इन चारो ग्रन्थों को मुनि जिनविजयसूरि ने सम्पादित कर प्रकाशित करवाए है। महाराजा कुमारपाल के सम्बन्ध मे कई ऐतिहासिक प्रबन्ध व चरित ग्रन्थ मुनि जिनविजय सूरि प्रकाश में लाये है। उन्हे प्रकाशित करवाया है। इन सभी ग्रन्थों मे राजस्थानी के पद्य उद्धृत है। इन ग्रन्थो में अपभ्रंश से राजस्थानी के विकास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है। श्रारम्भकाल मे प्रबन्ध ग्रन्थों में प्रभावक चरित, प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्ध कोस, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, कुमारपाल प्रतिबोध, उपदेश शप्तति आदि प्रमुख प्रबन्ध ग्रन्थ है। इस सम्पूर्णकाल मे प्रबन्धो की रचना होती रही है। जैन कवि इनमें निरन्तर अपनी रचना करते रहे है।

दूसरी प्रवृति जो श्रारम्भकाल में देखने को मिलती है, वह यह कि इस काल मे 'रास' नाम से काफी ग्रन्थों की रचनाएँ देखने को मिलती हैं। [illegible] काल के रचनाकारो में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है। राम [illegible] का [illegible] रों

तीसरी प्रवृत्ति राजस्थानी साहित्य के आरम्भकाल मे देखी जा सकती है, वह यह कि इस काल मे 'फागु' काव्य मे काफी साहित्य सृजन हुआ। काफी मात्रा मे कृतियाँ इस शीर्षक से देखने में आती हैं। 'जिनचन्द्रसूरि फागु' फागु काव्य मे सबसे पहली रचना है। संवत् और इसके रचनाकार का नाम अज्ञात है। इसमें 25 पद्य है। यह रचना संभवतः 13वी शताब्दी की है। इसके अतिरिक्त जिन पद्मसूरि रचित 'स्थूलिभद्र रास' 27 पद्यों की रचना मिलती है। इसके अलावा पद्म कवि का 'नेमिनाथ फागु' भी मिलता है। डॉ० भोलानाथ द्वारा सम्पादित 'प्राचीन फागु' नामक ग्रन्थ महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय बड़ोदा मे प्रकाशित हुआ है। इसमे 35 फागु काव्यों का विवरण दिया गया है। नेमिनाथ फागु में राजमती के शृंगार का वर्णन विस्तार से किया गया है। इस काल में औरते मिलकर फाग खेलती और फागु काव्य गाए जाते। इसका उल्लेख कवि हलराज ने इस तरह किया है—

वरल तरुणी मिलि दयइं, रास एक फागु खेलाव इं।
तसु अंगरिण नव निधि रमइं, संपति घर आवइं।

फागु काव्य मे आरम्भैकाल का सांस्कृतिक जीवन भी झलकता है तो आध्यात्म की झलक भी मिलती है। फागु साहित्य आरम्भकाल से रचा जाता रहा है।

आरम्भकाल में जो चौथी प्रवृत्ति देखने को मिलती है वह यह कि इस काल मे 'वचनिका' शीर्षक से गद्य-पद्य की सम्मिलित रचनाएँ जो अपने आप में लिखने की शैली का रूप धारण कर सामने आती है, में लिखना शुरू होता है। वचनिका शैली में लिखी जाने वाली रचनाओं की शुरुआत आरम्भकाल मे हो जाती है। शिवदास गाडण रचित 'वचनिका अचलदास खीची री' इस शैली का प्रथम सशक्त ग्रन्थ है। युद्ध और जौहर दो भागों में बँटी यह वचनिका युद्ध प्रधान खण्ड काव्य है। वचनिका जहाँ काव्य ग्रन्थों में स्थान पाती है वहाँ गद्य के विकास मे भी इसने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। 'अचलदास खीची री वचनिका' राजस्थानी गद्य-सौन्दर्य को मुँह से बुलाने वाली अनूठी कृति है। वचनिका कथा वर्णन करने की एक विशिष्ट शैली है। इस शैली मे 1396 मे जांखो मणियार ने 'हरिचन्द पुराण' की रचना की है, जो महाराजा हरिशचन्द्र की पौराणिक कथा पर आधारित है। कवि ने इसे 'प्याड़ो' (पवाड़ा) कहा है। वचनिका ने राजस्थानी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान पाया है। वचनिका लिखने की प्रवृत्ति मध्यकाल में भी जारी रही।

पाँचवी प्रवृत्ति आरम्भकाल मे यह देखने को मिलती है कि इस काल मे 'वेलि' लेखन प्रारम्भ हुआ और मध्यकाल में यह प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची। 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' जैसी उत्कृष्ट वेलि मध्यकाल में सामने

आती है जिसने भारतीय साहित्य में अपना गौरवपूर्ण स्थान बनाया है। राजस्थानी साहित्य के आरम्भकाल में जैन वेलि देखने में आती है, जिनमें 'ढाभो' की प्रधानता है। चारण वेलि—वेलियो, सोहणो, खुड़द, सारणोर गीत छन्द में लिखी गई है। वेलियो छन्द में सबसे पहली वेलि 'राउलवेल' है। इसके पश्चात् आरम्भ-काल में हरजी भाटी रचित दो वेल मिलती है—'रामदेवजी री वेल' और 'रूपादे री वेल'। प्रथम वेल मे 'भैरू राक्षस' के वध का वर्णन है और दूसरी मे मारवाड़ के राजा मल्लिनाथ और रानी रूपादे के जीवन प्रसंगो का संवेदनशील चित्रण किया गया है। इसके अलावा कवि तेजो ने 'रत्नादे वेल' लिखी। इसमें रत्नादे का वर्णन किया गया है। रत्नादे को उसकी सास उसके पुत्रो सहित घर से निकाल देती है। वह जंगल में आकर भक्ति करने लग जाती है, जंगल में उसकी भक्ति देखकर देवतादि प्रगट होते है, और अन्त मे राणा के परिवार के सब लोग आ जाते है। 'आई पंथ' के लोगो में यह वेल बहुत लोकप्रिय है। तोलादे और जैसल की कथा को लेकर लिखी गई 'तोलादे वेल' भी मिलती है। इस वेल में जैसक तोलादे के सम्पर्क मे आकर डाकू से भक्त बन जाता है। इस तरह हम देखते है लि वेलि साहित्य की परम्परा आरम्भकाल में पड़ी है तथा मध्यकाल मे यह समृद्ध बनी है।

छठी प्रवृत्ति आरम्भकाल में देखने को मिलती है वह यह है कि इस काल-में 'रासो' नाम से कई ग्रन्थ लिखने शुरू हुए और मध्यकाल तक यह सिलसिला चलता रहा। यह प्रवृत्ति आरम्भकाल मे पहली दफा दृष्टिगोचर होती है। खुमांण रासो, पृथ्वीराज रासो, विजयपाल रासो आदि इस प्रवृत्ति के परिचायक है। रासो साहित्य राजस्थानी साहित्य की बहुत बड़ी धरोहर है जो कि हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल का आधार बना है।

सातवी प्रवृत्ति जो इस काल में देखी जाती है वह इस काल क औक्तिक रचनाएँ है, आरम्भकालीन गद्य साहित्य इन औक्तिक रचनाओं में ही लिखा गया। ऐसी रचनाओ मे संग्रामसिंह रचित 'बाल शिक्षा' संस्कृत की एक बालोपयोगी व्याकरण है, परन्तु इसमे उदाहरण तथा शब्दो और प्रयोगो का अर्थ राजस्थानी मे दिया हुआ है। ऐसी रचनाएँ औक्तिक कहलाईं। ऐसी रचनायें आरम्भकाल में बहुत मिली है। औक्तिक रचनाओं मे सबसे महत्त्वपूर्ण कुलमण्डल का 'मुग्धाव बोध औक्तिक' है जिसकी रचना 1393 (सं. 1450) में हुई। औक्तिक रचनाओ से इस काल की भाषा का अच्छा ज्ञान होता है।

आरम्भकाल की उपरोक्त प्रवृत्तियों मे से कई प्रवृत्तियां आगे मध्यकाल तक चली और समृद्ध हुईं, कई छूट गईं। इस तरह विभिन्न प्रवृत्तियों मे से राजस्थानी मध्यकाल के दरवाजे खटखटाती है।

मध्यकाल

(1450 से 1850)

मध्यकाल राजस्थानी साहित्य का समृद्धि का काल है। इस काल में र
गए साहित्य की प्रतिष्ठा भारतीय साहित्य मे भी स्थापित हुई है, इसे राजस्थान
साहित्य का चरमोत्कर्पकाल या स्वर्णकाल भी कहा जा सकता है। यही से मारू गुर्ज
का विभाजन प्रारम्भ होता है और राजस्थानी राजस्थान की राजभाषा बनती है
और इसका साहित्यिक एकरूप सामने आता है। राजस्थानी साहित्य का
मध्यकाल हिन्दी साहित्य को अपनी देन देता है। इस काल का साहित्य भी अपनी
सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियो और राजनैतिक उथल-पुथल से प्रभावित
हुआ है।

आरम्भकाल मे चित्तौड के गुहिलोत और सिसोदिया और नागौर, अजमेर
के मुसलमान शासको का प्रभाव राजस्थान के इतिहास पर रहा। मध्यकाल में
कुछ और राजपूत वशो का उत्थान हुआ, जिनमे से मारवाड़ के राठौड प्रमुख है।
इस काल मे राजपूतो के कई वशो का उत्थान, मुगल साम्राज्य की स्थापना, अकबर
की तीखी-तरारी राजनैतिक-धार्मिक नीतियाँ, ब्रिटिश राज और उनकी कई
देशी रियासतो से सधि आदि ने राजस्थान के इतिहास को प्रभावित किया है।
राठौडो का उदय 14वी शताब्दी से ही शुरू हो जाता है। 1394 में चूंडा मारवाड़
पर कब्जा करता है। परन्तु इसके उत्तराधिकारी अयोग्य निकलते है, और राव
जोधा 1458 में मंडोवर पर कब्जा कर लेता है। 1485 में राव बीका अपना
प्रभाव बढाते है और 1488 मे बीकानेर की स्थापना करते है। (शाखा बीज
थरपियो बीकै बीकानेर)। अकबर के शासनकाल मे कछवाहो का प्रभुत्व बढता है,
जब भारमल 1562 मे अपनी बेटी का विवाह अकबर से करता है। बाद में
प्रतापसिह जो कि मोहब्बतसिह का पुत्र था, अलवर राज्य की स्थापना करता है।
नरूका कहलाते है जो कि कछवाहो की ही एक शाख है। उधर चहुँवाण वंश
की एक शाख हाडो का रावदेवा 1343 मे बूंदी राज्य की स्थापना करता है।
कोटा पहले तो बूंदी राज्य का ही एक हिस्सा था, परन्तु 1631 मे शाहजहाँ
माधोसिह को कोटा का एक अलग शासक मान लेता है, और कोटा बूंदी से अलग
हो जाता है। सिरोही इस वश चहुँवाणो की देवड़ा शाखा के कब्जे मे थी।
भरतपुर की रियासत 1713 मे सामने आती है जो जाटो के आधिपत्य मे रही।
जैसलमेर मे भाटी शासक रहे। 1350 के आसपास डूंगरसिंह डूंगरपुर राज्य की

यापना करते हैं। बाद में डूंगरपुर और बांसवाड़ा पृथ्वीराज और जगमाल को मिलते हैं जो कि महारावळ उदयसिंह के पुत्र थे। यह 1514 की बात है। 1526 में बाबर और राणासांगा के बीच खानवा के रणक्षेत्र में युद्ध होता है। इस युद्ध में बाबर की जीत के साथ राजस्थान में मुगल साम्राज्य की स्थापना होती है। अकबर की कूटनीति और बुद्धिमानी से मेवाड़ को छोड़ एक-एक कर समस्त रियासतें मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत आ जाती है। परन्तु 18वीं शताब्दी के अन्त में मुगलों का भी पतन आ जाता है और मराठों का अभ्युदय होता है। जैसलमेर और बीकानेर को छोड़ मराठा समस्त राजस्थान में आ जमते हैं। आपसी वैमनस्य और ईर्ष्या की वजह से एक-एक कर समस्त राजपूत मराठों की सत्ता स्वीकार कर लेते है। जब अंग्रेजों की सत्ता देश पर कायम होती है तो वे इनसे भी समझौता कर लेते है। 1818 तक सिरोही को छोड़कर समस्त देशी रियासतें अंग्रेजों की सत्ता स्वीकार कर लेती है। इस तरह 1819 तक अंग्रेजों की देशी रियासतों पर राजनैतिक सत्ता कायम हो जाती है जो 1947 तक चलती है। यहाँ एक बात उल्लेख करने योग्य है वो यह है कि 1857 में इन्ही देसी रियासतों ने अंग्रेजो का विरोध करने वालों का साथ न देकर अंग्रेजी शासन के हाथ मजबूत किए, हालांकि कई जागीरदारों ने गदर का समर्थन भी किया। इस काल में कई समकालीन चारण और अन्य कवियों ने गदर पर कविताएँ लिखी है। इस काल में वीरता और वीरत्व का साहित्य रचा गया जिसने सारे विश्व में अपनी प्रतिष्ठा कायम की है। इस काल के ऐतिहासिक महत्त्व के लिए भी कोई इन्कार नहीं करता। इसके अतिरिक्त नीति, नैतिकता, सद्व्यवहार, सदाचरण, और बुद्धिमत्ता की रचनाएँ भी रची गई। 'राजिया रा दूहा' ऐसी रचनाओं में प्रमुख है। 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' जैसी सशक्त रचना भी सामने आई है।

मध्यकाल से पहले आरम्भकाल में राजस्थान और गुजरात की भाषा एक थी। परन्तु मध्यकाल में आते-आते इन दोनों प्रांतों की दो अलग-अलग भाषाएँ बन जाती है। मारु-गुर्जर का विभाजन हो राजस्थान की राजस्थानी और गुजरात की गुजराती भाषा बनती है। इस काल में राजस्थानी की उपभाषा ढूंढाड़ी आदि सभी उपभाषाओं में साहित्य रचना होती है, परन्तु मारवाड़ी उपभाषा को अधिक ख्याति प्राप्त होती है। इस काल में डिंगल शैली में समस्त राजस्थान में रचना रची जाती है। इसी काल में मीरांबाई और ईसरदास अपनी पद्य रचना करते है। चारणों की रचनाओं की प्राचीन परम्परा इस काल में भी कायम रहती है व राजभक्ति, वीर पूजा का प्राधान्य ज्यों का त्यों बना रहता है। इसी युग में संत दादूदयाल होते है, और इनके अनुयायी राजस्थानी साहित्य का भण्डार भरते है। पांच पीर और करणीजी, तेजाजी आदि भी इसी काल में होते है। नाथ सम्प्रदाय की समृद्ध रचनाएँ भी इसी काल में सामने आती है। संत साहित्य इस युग को पहचान प्रदान करता है। राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली में भी

इसी काल में रचनाएँ रची जाती हैं। आख्यान काव्य मध्यकाल में रचता रहता है और अपनी पहचान कायम कर इस युग की प्रमुख विशेषता बन सामने आता है। कई महत्त्वपूर्ण लौकिक रचनाएँ इस काल में सामने आती हैं। मध्यकाल में गद्य और पद्य दोनो लिखे जाते है। पद्य साहित्य में चारण काव्य, आख्यान काव्य, संत साहित्य, जैन काव्य, लौकिक प्रेम काव्य और विविध रचनाएँ प्रचुर मात्रा में सामने आती है। गद्य साहित्य में धार्मिक गद्य, ऐतिहासिक गद्य और सृजनात्मक गद्य सामने आते है। इस काल का साहित्य बहुत ही समृद्ध साहित्य है। इसका सविस्तार अध्ययन विभिन्न शीर्षकों में बांट कर किया जाएगा।

राजस्थानी का पद्य साहित्य

मध्यकालीन राजस्थानी पद्य साहित्य बहुत मात्रा में और विविध रूपों में रचा गया है। इसे निम्नलिखित भागो में बांट कर अध्ययन करना वैज्ञानिक होगा—

1. चारण काव्य
2. पौराणिक और धार्मिक काव्य
3. आख्यान काव्य
4. संत साहित्य
5. जैन काव्य
6. लौकिक प्रेम काव्य

इन शीर्षकों में राजस्थानी काव्य का क्रमवार अध्ययन नीचे दिया जा रहा है—

चारण काव्य—

मध्यकालीन चारण काव्य की शुरूआत गाडण पसाइत से होती है। इस काल में गाडण पसाइत, खिड़िया चानण और सिढायच चोभुजा प्रारम्भिक कवि हुए है जो राठोड़ राव रणमल और मारवाड़ के जोधा के समकालीन थे। इन तीनों ने ही चित्तोड़ मे रहकर 1438 में रणमल की मृत्यु पर काव्य रचना की है। गाडण पसाइत का जीवन-वृत्त उपलब्ध नही है। परन्तु पसाइत का रचनाकाल (1400-1487/88) रहा है। इनकी 'राव रिणमल रो रूपक' और 'गुण जोधायण' नामक रचनाएँ मिलती है। कई छोटी-मोटी और रचनाएँ भी गाडण पसाइत ने लिखी है। इन दोनो रचनाओं में दूहा छन्द का प्रयोग हुआ है। एक बानगी नीचे दी जाती है—

> वधवाणी ब्रहमाणी, कौमारी सुरसत्ति।
> कीरत रिणमल नूं करूं, देवी देहि सुमत्ति॥

पसाइत लोकप्रिय कवि हुआ है। नैणसी ने अपनी ख्यात में अपनी बात के साक्ष्य के रूप में पसाइत के पद्यों का उल्लेख किया है।

खिड़िया चानण मारवाड़ के पाघाड़ी गाँव का रहने वाला था। राणा, बीकल और राव जोधा के समय में इनकी बहुत प्रसिद्धि थी। अच्छा नाम और मान-सम्मान था। राव बीका ने इन्हें 'लाख पसाव' दिया, चानण ने ही रणमल की मृत देही को अग्नि दी थी और उसके 'फूल' गंगाजी 'घाले' थे। इनके पद्यों में 'दूहा राव रणमल रा', 'दूहा राव रणधीर रा' और 'डिंगलगीत' आदि है।

मिढायच ने भी रणमल पर एक डिंगल गीत की रचना की थी।

इस तरह प्रारम्भिक चारण काव्य में रणमल और राव जोधा पर 'रिणमल री रूपक', 'गुण जोधायण', 'दूहा राव रणमल रा', 'दूहा राव रणधीर रा' और कई डिंगल गीत सामने आते हैं। इसके पश्चात् मध्यकाल में चारण काव्य काफी तादाद में सामने आता है। इस काल की प्रमुख रचनाओं का अध्ययन निम्न प्रकार है—

हम्मीरायण—इस ग्रंथ की रचना 1481 में हुई। इसमें 327 पद्य है। जिनमें अलाउद्दीन खिलजी और चहुँवाण वीर हम्मीर के युद्ध का वर्णन है। यह युद्ध शरणागत की रक्षा के लिए प्राण उत्सर्ग करने का बहुत महत्त्वपूर्ण अलौकिक उदाहरण है। इस युद्ध में हम्मीर रणमल और राजपाल की धोखाधड़ी की वजह से हार कर वीरगति को प्राप्त होता है। राजपूत वीरांगनाएँ जौहर करती है, और योद्धा युद्ध में वीरगति को प्राप्त होते है। हम्मीर स्वयं अपने हाथ से अपना सर काट लेता है। वह शत्रु के हाथों पद्-दलित होना स्वीकार नहीं करता। जौहर और हम्मीर के सिर काटने की घटना का बहुत मर्मस्पर्शी वर्णन इस काव्य कृति में हुआ है। हम्मीरायण के इस भाग में सर्वोत्तम काव्य-सौन्दर्य देखने को मिलता है। भांड़उ व्यास इस कृति के रचयिता हैं। हम्मीरायण हम्मीर पर प्रारम्भिक रचना है।

राव जैतसी रो छंद—'राव जैतसी रो छन्द' मध्यकाल की प्रमुख काव्य कृतियों में से एक प्रमुख काव्य कृति है। इसके रचयिता सूजाजी बीठू थे। बीठू चारणों की एक खाप है। इस काव्य कृति में बाबर के पुत्र कामरान और बीकानेर के राव जैतसी के बीच हुए युद्ध का वर्णन है। कामरान इस वक्त पंजाब और काबुल का हाकिम था। इस युद्ध में राव जैतसी की विजय होती है और कामरान हार जाता है। इस युद्ध के विषय में मुसलमान इतिहासकार मौन हैं परन्तु सूजाजी ने इसका विस्तार से वर्णन किया है। इस वजह से इस ग्रन्थ का, ऐतिहासिक महत्त्व भी है। इस ग्रन्थ में 401 पद्य है। पाघड़ी छन्दो, गाहो, दूहो, और कवित्तों में यह ग्रन्थ रचा गया है। यह डिंगल शैली में रचा गया है। इसमें वर्णन बहुत ही सजीव ढंग से हुआ है। एक बानगी यहाँ प्रस्तुत की जाती है—

धड़हड़ै ढोल घूजै धरत्ति, पड़िया नगि वरसे मेड़ पत्ति।
बीकाहर राजा ईंद वगि, साफरां सिरै गिविया मड़गि ॥
पतिसाह फौज फूटन्ति पाळि, ब्रह्मंड जैत गाजै विचाळि।
अंवहर जैत वरसे प्रवार, धड़किया मोर मुहि नग्गधार ॥

राव जैतसी पर 'राव जैतसी रउ छन्द' अथवा 'राव जैतसी री पधाड़ी छन्द' नाम से 485 पद्यों की रचना और भी मिलती है। इसी तरह 'राव जैतसी रासो' नाम से भी एक रचना मिली है। इनके रचनाकारों के नाम ज्ञात नहीं है।

'भटियाणी उमादे रा कवित्त' : 'बाघा रा दूहा'—बारठ आसोजी इन कृतियों के रचयिता है। आसोजी मध्यकाल के पहले कवि है जिन्होंने मध्यकाल में चारण शैली में अपना अच्छा खासा योगदान दिया। उमादे पर उनके कवित्त और बाघा पर लिखे हुए उनके दोहे भावना भरी गहराई तक पहुंचते है। ये जोधपुर राज्य के भड़ेस गांव के रहने वाले थे। इनका पूरा नाम आसानन्द था। ख्याति प्राप्त चारण कवि ईसरदास इनका भतीजा था। आसोजी के नाम पर ही आसावत् चारण हुए है जो अपने आपको बारठ आसोजी के वंशज बताते हैं।

बारठ आसोजी जोधपुर नरेश राव मालदेव के कृपापात्र थे। राव मालदेव ने बीकानेर पर चढाई की तब वे उनके साथ थे। मालदेव ने उन्हें ही उमादे को लाने के लिए जैसलमेर भेजा था। उमादे शादी की पहली रात ही मालदेव से नाराज हो गई थी, क्योंकि उमादे ने मालदेव को उसकी दासी भारमली से कामासक्त देख लिया था। इतिहास में उमादे 'रूठी राणी' के नाम से प्रसिद्ध है। मालदेव ने अनेक प्रयत्न किए परन्तु वह मानी नहीं। आसोजी उसे समझा कर जोधपुर के निकट कोसाणा गांव तक ले आए थे परन्तु फिर उसका मान जगा और वह वापस जैसलमेर चली गई। आसोजी ने उसे कहा—यदि तुम अपने प्रण पर दृढ़ रही तो मैं तुम्हें अमर कर दूंगा। आसोजी ने 14 कवित्त (छप्पय) कहे जो 'उमादे भटियाणी रा कवित्त' नाम से विख्यात हुए। इस तरह आसोजी ने अपने कथन को सत्य सिद्ध किया। एक बानगी यहाँ दी जाती है—

सभसोळै सिणगार, सतव्रत अंग सना है।
अरकवार मुख ऊग नीर गंगाजल नाहै ॥
चीर पहर अस चढै, मुकुट वेणी सिर खुल्लै।
देती परदिखणांह, हंमगत राणी हिल्लै ॥
सर भूषण पेस लिधो सरग, सामंतणो मन संजियो।
रूसणो मालदे राव सूं, भटियाणी इम भंजियो ॥

राव मालदेव ने आसोजी को ही भारमली को लाने के लिए भेजा था जिसे उन्होंने बाद में वाघा को सौंप दिया था। कारण यह था कि भारमली वाघा से प्रेम करती थी। उसने पूर्ण पुरुष के दर्शन वाघा मे किए थे राजा मे नहीं। वाघा आसोजी का मित्र था। आसोजी द्वारा अपने मित्र वाघा की मृत्यु पर लिखे करुण-रस से लबालब भरे हुए दोहे इतने मर्मस्पर्शी है कि कई लोग तो सुनकर अश्रुवर्षा करने लग जाते है। ये दोहे 'वाघा रा दूहा' नाम से लोकप्रिय हुए है।

आसोजी के द्वारा लिखी आठ रचनाएँ प्राप्त हुई है जिनमें लक्ष्मणायण, गुण निरंजन प्राण (पुराण), गोगाजी री पेडी, वाघा रा दूहा, उमादे भटियाणी रा कवित्त आदि प्रमुख है।

'हालां-झालां रा कुंडळिया'—कवि ईसरदास रचित 'हालां-झालां रा कुंडळिया' वीर रस की एक विशिष्ट रचना है। यह ध्रोल के स्वामी हाला जसा और हळवद के स्वामी झाला रायसिंह के बीच संवत् 1620 या 1621 ई. में हुई लड़ाई पर आधारित है। इसमें 50 कुंडळिया छन्द है। हालां-झालां साला-बहनोई थे। कई लोग इन्हे मामा-भानजा मानते है परन्तु यह सही नही है। कुंडळिया कथात्मक रचना नही है अपितु भावप्रधान रचना है। कथा तो आधार मात्र है। यह जसा की प्रशंसा में लिखी गई ईसरदास की फुटकर कुंडळियों का संकलन है, जिसका प्रत्येक पद अपने आप मे पूर्ण है। इसमें दो प्रकार के छन्द है—वर्णनात्मक और भावात्मक। वर्णनात्मक छन्दो की संख्या बहुत कम है। यह वीर रस की ओजस्वी कृति है। कुछ अन्य वीर-काव्यों की तरह इसमें द्वित्व वर्णों का प्रयोग और शब्दों की तोड़-मरोड़ न होकर सरल, सहज और स्वाभाविक भाषा का प्रयोग हुआ है। प्रसग के अनुकूल भाषा का प्रयोग वीर रस के अद्भुत भाव और उनका प्रकाशनलाघव, सकेतात्मक उल्लेख और निरोपम वर्णन इस कृति की विशेषता है। कवि ने जिस भाव की व्यंजना की है, उस पर मानो अपनी मुहर लगा दी। इसमें अधिकांश पद्य जसा की राणी से कहलाए गए है जिनमे वह अपने पति, अपनी सहेलियों आदि के सामने अपने हृदयोद्गार प्रकट करती है। भावो में कोमलता और स्वाभाविकता का अनूठा समावेश है। इस रचना ने अनेक परवर्ती कवियों को प्रभावित किया है।

रचना के भावों की बानगी द्रष्टव्य है—

घीरा धीरा ठाकुरां गुम्मर किया मजाह।
महँगा देसी झूंपड़ा जै घरि होसी नाह।
नाह महँगा दियण झूंपड़ा निम्रं नर।
जावसो कड़नळा केमि जरसो जहर।

एक-हथ पेखियो हाथ जसराज रो ।
ठिवता पाव धीरा दियो ठाकुरां ॥

इस पद्य में जसा की स्त्री ने झाला रायसिंह को सम्बोधित किया है कि 'धीरे-धीरे चलो, गर्व मत करो, यदि मेरे पति घर हुए तो वे अपने झोंपड़े को बहुत महंगे मोल पर देंगे। युद्ध में जाकर तुम कैसे जहर को पचाओगे। वहाँ तुम खड़्गधारी जसराज के पराक्रम को देखोगे। इसीलिए हे ठाकुर ! अपने पैरों को धीरे-धीरे रखो और पैरों की आहट मत होने दो।'

हालां-झालां पर एक रचना और प्राप्त हुई है—'कुंडळीया जसराज हरधोलाणी रा।'

'किरतार बावनी' और 'विरुद्ध छिहतरी'—'किरतार बावनी' और 'विरुद्ध छिहतरी' अकबर के दरबार के सम्मानित कवि दुरसा आढ़ा रचित है। विरुद्ध छिहतरी के बारे में कुछ मतभेद है। कई विद्वानों की यह स्पष्ट राय है कि विरुद्ध छिहतरी दुरसाजी की रचना नहीं है।

दुरसा जी चारणों की आढ़ा गोत्र के थे। अपने समकालीन शास इन्हें अपनी कविता के लिए कई इनाम-इकराम मिले। अकबर के दरब रहकर भी उन्होंने अपनी आवाज बुलन्द रखी। उनकी कविता के स्पष्ट स्वर उल्लेख करने योग्य है—

अकबर घोर अंधार, ऊंधाणा हिन्दू अवर।
जागै जग-दातार, पोहरै राण प्रताप सी॥
अकबर संमद अथाह, तिहं डूबा हिन्दू-तुरक।
मेवाड़ो तिण माह, पोयण फूल प्रताप सी॥
लोपै हिन्दू लाज, सगपण रोपै तुरक सूं।
आरज कुळ री लाज, पूंजी राण प्रताप सी॥
अकबर पथर अनेक, कै भूपत भेळा किया।
हाथ न आयो हेक, पारस राण प्रताप सी॥
अकबर हियै उचाट, रात-दिवस लागो रहै।
अजवट-घट समराट, पाटण राण प्रताप सी॥

दुरसा आढ़ा के स्वर राजस्थानी कविता में काफी चर्चित है।

'किरतार बावनी' 51 छन्दों की रचना है। इसके प्रत्येक छन्द में विभि व्यवसायों के लोगों की पीड़ा का वर्णन किया गया है। किसान, मल्लाह, महाव पत्रवाहक, चोर, पासीगर, पट्टेवाज, वेश्या, भिक्षुक, पहरेदार, भाट, मरजीव कहार लोहार, साधु, बाजीगर, मदारी, लकड़हारा, कसाई आ अभावग्रस्त और गरीब लोगों की पीड़ा का बड़े ही सहानुभूतिपूर्ण

ने किया है। अकबर के राज-वैभव में रहकर कवि ने इन लोगों पर अपनी … बनाकर कवि धर्म का सच्चा परिचय दिया है। छप्पय छन्द में रचित रचना दुरसा के उत्कृष्टतम काव्य में से कही जा सकती है। एक लकड़हारे चित्र यहाँ द्रष्टव्य है—

जेठ महीना जोर, तपै तिह दखियर तातो।
धरती वमदे धमै, महाबळ लूये मानो॥
काळा गिरवर कहर, जोइ तिहां निरधन जावै।
सिर भारो ले सबळ, घमं घर सामों आवै॥
भार संजोगे भेदीयो, भूमि पाव पाद्दा भरै।
करतार पेट दूभर किया, सो काम एह मानव करै॥

भगवान ने पेट को कठिनता से भरने वाला बनाया है इसलिए मानव को ऐसे कठिन-कठिन काम करने पड़ते है। यह रचना राजस्थानी की डिंगल शैली में लिखी गई है।

'विरुद छिहतरी' में महाराणा प्रताप की प्रशंसा में कहे गए छिहत्तर सोरठे है। कई विद्वानों ने हाल ही में इस रचना को 'दुरसा' कृत होने में सन्देह व्यक्त किया है और इसे ऊमरदान लालस रचित माना है।

इस कृति के कुछ दोहे यहाँ उल्लेखनीय है—

गढ़ ऊंचो गिरनार, नीचो आबू ही नहीं।
अकबर अघ अवतार, पुन अवतार प्रताप सी॥
अमरस पुरस आदेश, देश बचाय दयानिधे।
बरनन करूं विशेष, सुहृद नरेश प्रताप सी॥
आभा जग उदार, भारतवरस भवांनभुज।
आनम सम आधार, पीतम राण प्रताप सी॥
कवि आरधना कौन, पंडित हूं न प्रवीन पद।
दुरसो भाटो दीन, प्रभु तव सरन प्रताप सी॥

दुरसा आढ़ा ने अकबर के दरबार में रहकर भी मानसिक रूप से अपने आपको राणा प्रतापसिंह की शरण में माना है और अपनी दीन स्थिति यानि अकबर के दरबार की स्थिति को भी अप्रत्यक्ष रूप से बताया है। इन सोरठों में अनेकानेक तरहों से प्रतापसिंह की विशिष्टता बताते हुए उनकी आन्तरिक भावना की प्रशस्ति और अकबर की निंदा की गई है।

'झूलणा' छंद का प्रयोग कर दुरसा आढ़ा ने कुछ अच्छी कृतियां रची हैं उनमें 'राव सुरतारा रा झूलणा', 'झूलणा राव अमरसिंघ गजसिंघोत रा' 'झूलणा राव मेघा रा' और 'राजा मानसिंह रा झूलणा'। इसके अलावा 'गजगत'

कवि ने किया है। अकबर के राजें-वभव में रहकर कवि ने इन लोगों पर अपनी कलम चलाकर कवि धर्म का सच्चा परिचय दिया है। छप्पय छन्द में रचित यह रचना दुरसा के उत्कृष्टतम काव्य में से कही जा सकती है। एक लकड़हारे का चित्र यहां द्रष्टव्य है—

जेठ महीना जोर, तपै तिह दणियर तातो।
धरती वसदे धर्वं, महाबळ लूये मातो॥
काळा गिरवर कहर, जोइ तिहां निरधन जावैं।
सिर भारो ले सबळ, घसैं घर सामों आवैं॥
भार संजोगे भेदीयो, भूमि पाव पाछा भरैं।
करतार पेट दूभर किया, सो काम एह मानव करैं॥

भगवान ने पेट को कठिनता से भरने वाला बनाया है इसलिए मानव को ऐसे कठिन-कठिन काम करने पड़ते है। यह रचना राजस्थानी की डिंगल शैली में लिखी गई है।

'विरुद्ध छिहतरी' में महाराणा प्रताप की प्रशंसा मे कहे गए छिहत्तर सोरठे है। कई विद्वानो ने हाल ही मे इस रचना को 'दुरसा' कृत होने मे सन्देह व्यक्त किया है और इसे ऊमरदान लालस रचित माना है।

इस कृति के कुछ दोहे यहां उल्लेखनीय हे—

गढ़ ऊंचो गिरनार, नीचो आवू ही नहीं।
अकबर अघ अवतार, पुन अवतार प्रताप सी॥
अलख पुरुष आदेश, देश बचाय दयानिधे।
बरनन करूं विशेप, सुहृद नरेश प्रताप सी॥
आभा जग उदार, भारतवरस भवानभुज।
आतम सम आधार, पीतम राण प्रताप सी॥
कवि प्रारथना कीन, पंडित हूँ न प्रवीन पद।
दुरसो आढो दीन, प्रभु तव सरन प्रताप सी॥

दुरसा आढ़ा ने अकबर के दरबार मे रहकर भी मानसिक रूप मे अपने आपको राणा प्रतापसिंह की शरण मे माना है और अपनी दीन स्थिति यानि अकबर के दरबार की स्थिति को भी अप्रत्यक्ष रूप से बताया है। इन सोरठों मे अनेकानेक तरहों से प्रतापसिंह की विशिष्टता बताते हुए उनकी आन्तरिक भावना की प्रशस्ति और अकबर की निंदा की गई है।

'झूलणा' छंद का प्रयोग कर दुरसा आढ़ा ने कुछ अच्छी कृतियां रची है उनमें 'राव सुलताण रा झूलणा', 'झूलणा राव अमरसिंघ गजसिंघोत रा' 'झूलणा राव मेधा रा' और 'राजा मानसिंह रा झूलणा'। इसके अलावा 'गजगत' छंद का प्रयोग करके भी आढ़ा ने रचना लिखी है।

कवि ने किया है। अकबर के राज-वैभव में रहकर कवि ने इन लोगों पर अपनी कलम चलाकर कवि धर्म का सच्चा परिचय दिया है। छप्पय छन्द में रचित यह रचना दुरसा के उत्कृष्टतम काव्य में से कही जा सकती है। एक लकड़हारे का चित्र यहाँ द्रष्टव्य है—

जेठ महीना जोर, तपै तिह दणियर तातो।
धरती बसदे धवै, महाबळ लूये मातो॥
काळा गिरवर कहर, जोइ तिहा निरधन जावै।
सिर भाटो ले सबळ, धसै घर सामों आवै॥
भार संजोगे भेदीयो, भूमि पाव पाद्या भरै।
करतार पेट दूभर किया, सो काम एह मानव करै॥

भगवान ने पेट को कठिनता से भरने वाला बनाया है इसलिए मानव को ऐसे कठिन-कठिन काम करने पड़ते है। यह रचना राजस्थानी की डिंगल शैली में लिखी गई है।

'विरुद्ध छिहतरी' में महाराणा प्रताप की प्रशंसा में कहे गए छिहत्तर सोरठे हैं। कई विद्वानों ने हाल ही में इस रचना को 'दुरसा' कृत होने में सन्देह व्यक्त किया है और इसे ऊमरदान लालस रचित माना है।

इस कृति के कुछ दोहे यहाँ उल्लेखनीय हैं—

गढ ऊंचो गिरनार, नीचो आबू ही नहीं।
अकबर अघ अवतार, पुन अवतार प्रताप सी॥
अलख पुरुष आदेश, देश बचाय दयानिधे।
बरनन करूं विशेष, सुहृद नरेश प्रताप सी॥
आभा जग उदार, भारतवरस भवांनभुज।
आतम सम आधार, पीतम राण प्रताप सी॥
कवि प्रारथना कीन, पंडित हूँ न प्रवीन पद।
दुरसो आढो दीन, प्रभु तव सरन प्रताप सी॥

दुरसा आढ़ा ने अकबर के दरबार में रहकर भी मानसिक रूप में अपने आपको राणा प्रतापसिंह की शरण में माना है और अपनी दीन स्थिति यानि अकबर के दरबार की स्थिति को भी अप्रत्यक्ष रूप से बताया है। इन सोरठों में अनेकानेक तरहों से प्रतापसिंह की विशिष्टता बताते हुए उनकी आन्तरिक भावना की प्रशस्ति और अकबर की निंदा की गई है।

'झुलणा' छंद का प्रयोग कर दुरसा आढ़ा ने कुछ अच्छी कृतियां रची है उनमें 'राव सुलताण रा झुलणा', 'झुलणा राव अमरसिंघ गजसिंघोत रा' 'झुलणा राव मेघा रा' और 'राजा मानसिंह रा झुलणा'। इसके अलावा 'गजगत' छंद का प्रयोग करके भी आढ़ा ने रचना लिखी है।

कवि ने किया है। अकबर के राज-वैभव में रहकर कवि ने इन लोगों पर अपनी कलम चलाकर कवि धर्म का सच्चा परिचय दिया है। छप्पय छन्द में रचित यह रचना दुरसा के उत्कृष्टतम काव्य में से कही जा सकती है। एक लकड़हारे का चित्र यहाँ द्रष्टव्य है—

जेठ महीना जोर, तपै तिह दणियर तातो।
धरती वसदे धखै, महाबळ लूये मातो॥
काळा गिरवर कहर, जोइ तिहां निरधन जावै।
सिर भारो ले सबळ, धसै घर सामों आवै॥
भार संजोगे भेदीयो, भूमि पाव पाछा भरै।
करतार पेट दूभर किया, सो काम एह मानव करै॥

भगवान ने पेट को कठिनता से भरने वाला बनाया है इसलिए मानव को ऐसे कठिन-कठिन काम करने पड़ते है। यह रचना राजस्थानी की डिंगल शैली में लिखी गई है।

'विरुद्ध छिहतरी' में महाराणा प्रताप की प्रशंसा में कहे गए छिहत्तर सोरठे है। कई विद्वानो ने हाल ही में इस रचना को 'दुरसा' कृत होने में सन्देह व्यक्त किया है और इसे ऊमरदान लालस रचित माना है।

इस कृति के कुछ दोहे यहाँ उल्लेखनीय है—

गढ ऊंचो गिरनार, नीचो आबू ही नहीं।
अकबर अध अवतार, पुन अवतार प्रताप सी॥
अलख पुरुष आदेश, देश बचाय दयानिधै।
बरनन करूं विशेष, सुहृद नरेश प्रताप सी॥
आभा जग उदार, भारतवरस भवांनभुज।
आतम सम आधार, पीतम राण प्रताप सी॥
कवि प्रारथना कीन, पंडित हूँ न प्रवीन पद।
दुरसौ आढो दीन, प्रभु तव सरन प्रताप सी॥

दुरसा आढ़ा ने अकबर के दरबार में रहकर भी मानसिक रूप में अपने आपको राणा प्रतापसिंह की शरण में माना है और अपनी दीन स्थिति यानि अकबर के दरबार की स्थिति को भी अप्रत्यक्ष रूप से बताया है। इन सोरठों में अनेकानेक तरहो से प्रतापसिंह की विशिष्टता बताते हुए उनकी आन्तरिक भावना की प्रशस्ति और अकबर की निंदा की गई है।

'झुलणा' छंद का प्रयोग कर दुरसा आढ़ा ने कुछ अच्छी कृतियां रची है उनमें 'राव सुलताण रा झुलणा', 'झुलणा राव अमरसिंघ गजसिंधोत रा' 'झुलणा राव मेघा रा' और 'राजा मानसिंह रा झुलणा'। इसके अलावा 'गजगत' छंद का प्रयोग करके भी आढ़ा ने रचना लिखी है।

कर-हथ पेंगियो हाथ जगराज रा ।
ठिवा पाव धीरा दियो ठाकुरां ॥

इस पद्य में जग्गा की स्त्री ने झाला रायसिंह को सम्बोधित किया है कि 'धीरे-धीरे चलो, गर्व मत करो, यदि मेरे पति पर हुए तो वे अपने भौंड़े को बहुत महंगे मोल पर देंगे। युद्ध में जाकर तुम कैसे जहर को पचाओगे। वहां तुम खड्गधारी जगराज के पराक्रम को देखोगे। इसीलिए हे ठाकुर ! अपने पैरों को धीरे-धीरे रखो और पैरों की आहट मत होने दो।'

झाला-झाला पर एक रचना और प्राप्त हुई है—'कुंडळीया जगराज हरधोलाणी रा।'

'किरतार बावनी' और 'विरुद्ध छिहतरी'—'किरतार बावनी' और 'विरुद्ध छिहतरी' अकबर के दरबार के सम्मानित कवि दुरसा आढ़ा रचित है। विरुद्ध छिहतरी के बारे में कुछ मतभेद है। कई विद्वानों की यह स्पष्ट राय है कि विरुद्ध छिहतरी दुरसाजी की रचना नहीं है।

दुरसा जी चारणों की आढ़ा गोत्र के थे। अपने समकालीन शासकों से इन्हें अपनी कविता के लिए कई इनाम-इकराम मिले। अकबर के दरबार में रहकर भी उन्होंने अपनी आवाज बुलन्द रखी। उनकी कविता के स्पष्ट स्वर यहां उल्लेख करने योग्य है—

अकबर घोर अंधार, ऊंघाणा हिन्दू अवर।
जागै जग-दातार, पोहरै राण प्रताप सी ॥
अकबर समंद अथाह, तिहं डूबा हिन्दू-तुरक।
मेवाड़ो तिण माह, पोयण फूल प्रताप सी ॥
लोपै हिन्दू लाज, सगपण रोपै तुरक सूं।
आरज कुळ री लाज, पूंजी राण प्रताप सी ॥
अकबर पथर अनेक, कै भूपत भेळा किया।
हाथ न आयो हेक, पारस राण प्रताप सी ॥
अकबर हियै उचाट, रात-दिवस लागी रहै।
अजवट-वट समराट, पाटण राण प्रताप सी ॥

दुरसा आढा के स्वर राजस्थानी कविता में काफी चर्चित है।

'किरतार बावनी' 51 छन्दों की रचना है। इसके प्रत्येक छन्द में विभिन्न व्यवसायों के लोगों की पीड़ा का वर्णन किया गया है। किसान, मल्लाह, महावत, पत्रवाहक, चोर, पासीगर, पट्टेबाज, वेश्या, भिक्षुक, पहरेदार, भाट, मरजीवा, कहार लोहार, साधु, बाजीगर, मदारी, लकड़हारा, कसाई आदि विभिन्न अभावग्रस्त और गरीब लोगों की पीड़ा का बड़े ही सहानुभूतिपूर्ण तरीके से वर्णन

कवि ने किया है। अकबर के राज-वैभव में रहकर कवि ने इन लोगों पर अपनी कलम चलाकर कवि धर्म का सच्चा परिचय दिया है। छप्पय छन्द में रचित यह रचना दुरसा के उत्कृष्टतम काव्य में से कही जा सकती है। एक लकड़हारे का चित्र यहाँ द्रष्टव्य है—

जेठ महीना जोर, तपै तिह दरिणयर तातो।
धरती वसदे धसँ, महाबळ लूये मातो ॥
काळा गिरवर कहर, जोइ तिहा निरधन जावै।
सिर भारो ले सबळ, धसँ घर मामों आवै ॥
भार संजोगे भेदीयो, भूमि पाव पाछा भरै।
करनार पेट दूभर किया, सो काम एह मानव करै ॥

भगवान ने पेट को कठिनता से भरने वाला बनाया है इसलिए मानव को ऐसे कठिन-कठिन काम करने पड़ते है। यह रचना राजस्थानी की डिंगल शैली में लिखी गई है।

'विरुद्ध छिहतरी' में महाराणा प्रताप की प्रशंसा में कहे गए छिहत्तर सोरठे हैं। कई विद्वानों ने हाल ही मे इस रचना को 'दुरसा' कृत होने मे सन्देह व्यक्त किया है और इसे ऊमरदान लालस रचित माना है।

इस कृति के कुछ दोहे यहाँ उल्लेखनीय है—

गढ ऊंचो गिरनार, नीचो आबू ही नही।
अकबर अघ अवतार, पुन अवतार प्रताप सी ॥
अलख पुरुष आदेश, देश बचाय दयानिधे।
वरनन करूं विशेष, सुहृद नरेश प्रताप सी ॥
आभा जग उदार, भारतवरस भवांनभुज।
आतम सम आधार, पीतम राण प्रताप सी ॥
कवि प्रारथना कीन, पंडित हूँ न प्रवीन पद।
दुरसो आढो दीन, प्रभु तव सरन प्रताप सी ॥

दुरसा आढ़ा ने अकबर के दरबार मे रहकर भी मानसिक रूप मे अपने आपको राणा प्रतापसिंह की शरण मे माना है और अपनी दीन स्थिति यानि अकबर के दरबार की स्थिति को भी अप्रत्यक्ष रूप से बताया है। इन सोरठो में अनेकानेक तरहों से प्रतापसिंह की विशिष्टता बताते हुए उनकी आन्तरिक भावना की प्रशस्ति और अकबर की निंदा की गई है।

'झुलणा' छंद का प्रयोग कर दुरसा आढ़ा ने कुछ अच्छी कृतियाँ रची हैं उनमें 'राव सुलतारण रा झुलणा', 'झुलणा राव अमरसिंघ गजसिंघोत रा' 'झुलणा राव मेघा रा' और 'राजा मानसिंह रा झुलणा'। इसके अलावा 'गजगत' छंद का प्रयोग करके भी आढ़ा ने रचना लिखी है।

'सूजा बालेछा रा कवित्त'मध्यकाल के चारण साहित्य में आसिया करमसी रचित 'सूजा बालेछा के कवित्त' उल्लेखनीय है। 'सूजा बालेछा रा कवित्त' में हरमाड़ा युद्ध का वर्णन है। इस युद्ध में सूजा बालेछा काम आता है। यह युद्ध 1556 ई. में लडा गया था। करमसी आसिया का पूरा नाम आसिया करमसी दूदो था।

करमसी दूदो ने 'मरसिया राव सिरोही रा' नाम से एक और कृति की रचना की है। इन्हीं की लिखी राठोड़ रतनसिंह की वेलि भी मिलती है। इसमें राठोड़ रतनसिंह और कुलीगा के बीच हुए युद्ध का वर्णन है। इस कृति में दुश्मन की सेना को विष कन्या और रतनसिंह को बीद बताया गया है।

'गुण रूपक'—गुण रूपक की रचना केसोदास गाडण ने की है। केसोदास गाडण 17 वी शताब्दी के प्रारम्भ में सर्वाधिक सम्मानित कवि हुए हैं। इनका रचनाकाल 1583 ई और 1644 ई. रहा है। केसोदास सोजत के पास 'चिडिया' नामक गाँव के रहने वाले थे। ये गाडण शाखा के चारण कवि थे। केसोदास गृहस्थी थे परन्तु गेरुवा वस्त्र पहिनते। इनकी प्रशंसा में कहा हुआ राठोड़ पृथ्वीराज का यह दूहा बहुत लोकप्रिय है—

केसो गोरपनाथ कवि, चेलो कियो चकार।
सिध रूपी रहता सबद, गाडण गुण भडार॥

केसोदास ने अपनी रचनाएँ राजस्थानी की डिंगल शैली में की है। इनके तीन ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है—'गुण रूपक', 'राव अमरसिंह रा दूहा' और 'विवेक वार्ता'। 'गज गुण प्रकाश' भी इन्ही की लिखी हुई कृति है। इन ग्रंथों में 'गुण रूपक' सबसे बडा ग्रंथ है। इसमें जोधपुर के महाराजा गजसिंह के राजवैभव, उनकी तीर्थ यात्रा और उनके युद्धो का वर्णन मिलता है। दूहा, कवित्त, गाहा, अडिल्ल आदि सब मिलाकर एक हजार छंदो मे यह ग्रंथ सम्पूर्ण होता है। 'राव अमरसिंह रा दूहा' में नागौर के राव अमरसिंह की वीरता का वर्णन किया गया है। 'विवेक वार्ता' वेदान्त का ग्रंथ है।

'राज प्रकास'- इस ग्रंथ के रचनाकार किशोरदास जाति मे भाट थे। इसका रचनाकाल 1658-59 ई के आस-पास रहा है। इसमें 132 रूपक तथा 377 पद्य है। राज प्रकास में महाराणा राजसिंह ने मालपुरा पर जो आक्रमण किया था उसका और उदयपुर में उनके स्वागत-सम्मान का वर्णन है। इसमें राणा प्रताप और मानसिंह, अमरसिंह और जहांगीर और राजसिंह के मालपुरा पर आक्रमण के बहुत ही सजीव चित्राम है, किशोरदास 'रासो' से प्रभावित थे और इसी से प्रभावित होकर उन्होंने 'रासो' की शैली अपनाई। कवि और कविता का परिचय निम्न पंक्तियों मे देखा जा सकता है—

राणो प्रतपै राजसी, धर गिरपाट उधोर।
राज प्रकासित नाम गहि, कहि कहि राव किसोर॥

'वचनिका राठौड़ रतनसिंह महेसदासोत री'–यह वचनिका खिड़िया जग्गा द्वारा रचित मध्यकाल की उत्कृष्टतम रचनाओं में से एक है। अचलदास खीची की वचनिका के पश्चात् वचनिका शैली पर खिड़िया जग्गा ने यह एक बहुत ही उत्कृष्ट वचनिका लिखी है। इस कृति का रचनाकाल 1658 ई. के आस-पास रहा है। यह वचनिका वर्णनात्मक शैली में लिखा एक वर्णनात्मक काव्य है। इसमें जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह और मुगल सम्राट शाहजहां के विद्रोही पुत्र औरंगजेब तथा मुराद के बीच उज्जैन के रणक्षेत्र में हुए युद्ध का वर्णन है। इस युद्ध में रतलाम का राजा रतनसिंह लड़ते-लड़ते वीरगति प्राप्त करता है। खिड़िया जग्गा रतलाम नरेश राठोड़ रतनसिंह के ही आश्रित थे। रतनसिंह के इर्द-गिर्द कथानक होने की वजह से इस वचनिका को 'रतन रासौ' भी कहा जाता है। (परन्तु 'रतन रासौ' नाम से एक अलग ग्रंथ भी मिलता है जो राजस्थानी की पिंगल शैली में रचा गया है।) यह एक वीर रस का काव्य है और राजस्थानी की डिंगल शैली में लिखा हुआ है। इस ग्रंथ में वचनिका शैली का निर्वाह पूर्णरूपेण हुआ है। पद्य के साथ गद्य भी कथा के साथ-साथ चलता है। गद्य की बानगी नीचे द्रष्टव्य है—

"इणि भांति सूं च्यारि राणी त्रिण्हि खवासि द्रव्य नाळेर उछाळि वळण चाली। चंवळा चढि चढ़ि महासरवर री पालि आइ ऊभी रही। किसड़ा हेक दीसै। जिसड़ी किरतियां रो झूंबको। कै मोतिया री लड़ी न पवगां सूं ऊतरि। महापवीत ठौड़ि ईसर-गोरज्या पूजी। कर जोड़ि कहण लागी। जुगि-जुगि औ हीज धणी दीज्यो। न मांगा बात दूजी। पछै जमी आकास पवन पाणी चंद सूरिज नूं प्रणाम करि। आरोगी ढोळी परिक्रमा दीन्ही।....."

वचनिका में राजस्थानी गद्य का सुन्दर उदाहरण मिलता है। खिड़िया जग्गा ने गद्य लिखते वक्त उपमाओं का भी सुन्दर प्रयोग किया है। भाषा प्रसगानुकूल काम में ली है। मध्यकाल में रची यह वचनिका राजस्थानी गद्य के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

'राज रूपक' और 'सूरज प्रकास'–जोधपुर के महाराजा अभयसिंह और गुजरात के सूबेदार शेर बिलंदखा के बीच हुए युद्ध पर ये दोनों ग्रंथ लिखे हुए हैं। वीरभाण रतनू ने 'राज रूपक' और करणीदान ने 'सूरज प्रकास' की रचना की है। ये दोनों ही अभयसिंह के आश्रित थे। 'राज रूपक' में युद्ध के अतिरिक्त अभयसिंह के पिताश्री महाराजा अजीतसिंह और दादा महाराजा जसवंत सिंह के जीवन की घटनाओं पर भी प्रकाश पड़ा है। इस युद्ध में वीरभाण अभयसिंह के साथ था। इस वजह से इस ग्रंथ में आंखों देखा वर्णन चित्रित हुआ है। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ की एक बड़ी विशेषता और भी है। वह यह कि इस ग्रंथ में इस युद्ध में लड़ने वाले सरदार-सामन्तों आदि के नामों का उल्लेख भी हुआ है। संवत् जिसमें यह युद्ध लड़ा गया उसका भी उल्लेख किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से ये सब बहुत

महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रंथ 46 प्रकासो मे बँटा हुआ है। घटनाओं के सही-सही संवत् दिए हुए है।

'सूरज प्रकास' 7500 छंदों का ग्रंथ है। इसकी रचना से खुश होकर महाराज अभयसिंह ने इसके रचयिता करणीदान को 'लाख पसाव' दिया। कवि को हाथी के ओहदे बैठाकर स्वयं घोड़े पर सवार हो उनकी 'जलेब मे चले और उनको उनके घर पहुँचा कर आए। इसका उल्लेख निम्न प्रकार है—

अस चढियो राजा अभो, कवि चाढे गजराज।
पोहर अेक जलेब मे, मोहर चले महाराज॥

'सूरज प्रकास' राजस्थानी की डिंगल शैली की उत्कृष्ट रचना है। चारण परम्परा की यह एक प्रतिनिधि रचना कहलाती है। इसका कथ्य वही है जो 'राज रूपक' का है परन्तु भाषा, साहित्य और विषय विस्तार की दृष्टि से यह ज्यादा पूर्ण है। महाराजा अभयसिंह को सुनाने के लिए करणीदान ने सूरज प्रकास का साराश एक दूसरे छोटे ग्रंथ में लिखा जिसका नाम उन्होने 'विड़द सिणगार' रखा। इसमे 138 पद्य है।

करणीदान ने 'जैन जवार', 'जतीरासो' नामक ग्रंथ भी रचे। वीरभाण ने भी 'अेकाक्षरी नाममाला' तथा 'भागवत प्रकास' नाम से दो और ग्रंथों की रचना की।

करणीदान चारणों की कविया शाखा का कवि था और वह मेवाड़ के सूलवाड़ा गाँव का रहने वाला था। वीरभाण जोधपुर के ढाढ़ोई गाँव का रहने वाला था।

माधव यश प्रकाश—मानसिंह आसिया इस ग्रंथ का रचयिता है। इस ग्रंथ में कानोड़ (मेवाड़) के रावत माधवसिंह और शाही सेना के सेनापति रणबाजखा के बीच हुए युद्ध का वर्णन है। इस युद्ध मे रणबाजखा मारा जाता है। इस ग्रंथ की रचना 1711-1714 ई के आस-पास हुई है।

भीम विलास—इस ग्रंथ के रचयिता किसनाजी दुरसा आढ़ा की वंश परम्परा के कवि थे। ये महाराणा भीमसिंह के आश्रित थे। 'भीम विलास' की रचना उन्होंने महाराणा भीमसिंह की आज्ञा मे 1822 ई. मे की। इसमे महाराणा का जीवन-वृत्त वर्णित हुआ है। इतिहास की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है। कर्नल टॉड जब इतिहास सम्बन्धी सामग्री इकट्ठी कर रहे थे तो किसनाजी उस वक्त उनके साथ थे। इस ग्रंथ के अलावा किसनाजी का लिखा 'रघुवर जस प्रकास' एक और ग्रंथ मिलता है। इसमें डिंगल छंद शास्त्र का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

'भीम प्रकास'—इस ग्रंथ की रचना रामदान लालस ने की। 'लालस' भी चारणों की एक शाखा है। 'भीम प्रकास' ने मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह के राजमहल, राजदरबार, राजवैभव, गणगौर की सवारी आदि बहुतेरा बहुत ही सुन्दर

वर्णन मिलता है। दूहा, कवित्त मिलाकर इसमें 175 छंद हैं। बीच-बीच में कहीं गद्य भी आया है। इस ग्रंथ के शुरूआत के 70 छंदों में मेवाड़ का इतिहास बताया गया है। 'भीम प्रकास' भी राजस्थानी की डिंगल शैली का ग्रंथ है। रामदान लालस द्वारा रचित इसके अतिरिक्त 'करणी-रूपक' और 'खीचियों का इतिहास' भी मिलता है।

'देसलजी री वचनिका'—इस वचनिका में देसलजी और बुलंदखां (गुजरात का सूबेदार) के बीच हुए युद्ध का वर्णन हुआ है। यह युद्ध 1728 ई. में हुआ था। 'देसलजी री वचनिका' एक वर्णनात्मक काव्य है। कवि महारावळ देसलजी और उनके पुत्र लखपत, जो कि कच्छ में था, के आश्रित थे। अठारहवीं शताब्दी के प्रथम अर्द्ध भाग में मारवाड़ के घड़ोई गांव में कवि का जन्म हुआ था। यह कवि प्रतिभा का धनी था।

'देवगुण प्रकास'—इस ग्रन्थ में 536 पद्य हैं। इसका रचना काल 1780 और 1795 ई. के बीच रहा है। सीकर के राव देवीसिंह ने नजफ कुलीखां ने सिरोही (सीकर) में और शाही सेनापति मुर्तजा अली से खाटू में जो युद्ध किए उनका शानदार चित्रण 'देवगुण प्रकास' में आया है।

'हंमीर रासौ'—'हंमीर रासौ' की रचना जोधराज ने की। यह 1728 में रचकर पूर्ण हुआ। यह ग्रन्थ 1000 छन्दों का ग्रन्थ है। इसमें चहुंवाणों की वंशावली, अल्लाउद्दीन से दुश्मनी, हम्मीर की वीरता, उसके युद्ध में लड़ने के तौर-तरीके, उसकी मृत्यु आदि के कथानक आए हैं। कथानक ऐतिहासिक महत्व का है। परन्तु इसमें हम्मीर के बारे में कई घटनाएं बिना प्रमाण के भी दी गई हैं। जैसे हम्मीर का खुदमखुद सिर काट लेना, अल्लाउद्दीन का समुद्र में कूद के मर जाना आदि। इस ग्रन्थ में हम्मीर, अल्लाउद्दीन और महिमाशाह—तीन चरित्र कवि ने चित्रित किए हैं। परन्तु हम्मीर जैसे वीर का जिस ढंग से चरित्र-चित्रण होना चाहिए था वैसा नहीं हो पाया है। कवि ने हम्मीर और अल्लाउद्दीन को स्वर्ग में मिलाया है। इससे शायद कवि हिन्दू-मुस्लिम एकता की तरफ लोगों का ध्यान खींचना चाहता होगा। परन्तु ऐसी घटनाएं मात्र काल्पनिक हैं। हाँ काव्य-कौशल कवि ने इसमें अवश्य दिखाया है। ग्रन्थ में शृंगार की छटा भी बिखरी है। कहीं-कहीं प्रकृति वर्णन भी बहुत अच्छा बन पड़ा है।

'केसरी सिंह समर'—इस ग्रन्थ की रचना 1683-97 ई. के आस-पास हुई है। हरिनाम शाडिल्य इसके रचयिता हैं। वे खंडेला के राजा केसरीसिंह के आश्रित थे। इस ग्रन्थ में शेखावत् वंश चलाने वाले राव शेखाजी से लेकर केसरीसिंह तक शेखावतों का इतिहास बताया गया है। ग्रन्थ में औरंगजेब ने अपने सेनापति अब्दुलखां को केसरीसिंह से युद्ध करने के लिए भेजा, उसका वर्णन भी हुआ है। इस युद्ध में केसरीसिंह वीरगति को प्राप्त होता है और रानियाँ

सती हो जाती है। यह युद्ध खंडेला के पास हीरपुर के रणक्षेत्र में लड़ा गया। युद्ध का कारण यह था कि केसरीसिंह ने औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति का विरोध किया था। यह ग्रन्थ राजस्थानी की पिंगल शैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में छप्पय, हणूफाल, मोतीदान आदि कई छन्दों का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ में 459 पद्य हैं। ग्रन्थ वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है। परन्तु कवि ने कई सुन्दर चित्राम भी दिए हैं। युद्ध का वर्णन और सती चरित्र वर्णन बहुत ही सशक्त है। सती-परी सवाल-जवाब में कवि ने अपनी कुशल काव्य शक्ति का परिचय दिया है।

'राण रासो'—यह ग्रन्थ ऐतिहासिक महत्व का ग्रन्थ है। इसके रचयिता दयाराम राव ने इसमें मेवाड़ का इतिहास दिया है। ग्रन्थ का रचनाकाल 1680 और 1698 ई. के बीच रहा है। यह ग्रन्थ भी राजस्थानी की पिंगल शैली में लिखा गया है। सरस्वती और गणपति की वन्दना कर कवि ने सृष्टि रचयिता ब्रह्मा से लेकर महाराणा जयसिंह तक मेवाड़ की वंशावली दी है। इसमें कई नाम सही और कई गलत आये है। बप्पा रावल और अजयसिंह के बीच कई नाम गलत आए है। इस ग्रन्थ मे महाराणा कुम्भा और महाराणा उदयसिंह, महाराणा प्रताप और अमरसिंह का वर्णन विस्तार से हुआ है। इनके युद्धों का भी कवि ने सशक्त वर्णन किया है।

'जगविलास'—इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम नंदराम है। यह ब्राह्मण कवि था। जगतसिंह (द्वितीय) का आश्रित था। इस ग्रन्थ की रचना 1745 में हुई है। इसमें मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) के राज-काज, राज वैभव जग विलास महल की प्रतिष्ठा आदि के वर्णन हुए हैं। यह भी राजस्थानी की पिंगल शैली में रचा गया था। साहित्यिक दृष्टि से यह एक सशक्त ग्रन्थ है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह काफी महत्त्व रखता है।

नन्दराम रचित 'शिकार भाव' नाम से एक ग्रन्थ और मिलता है। इसमें जगतसिंह के शिकारों का उल्लेख हुआ है।

'भाषा भारथ'—यह तेरह हजार के लगभग छन्दों का बड़ा ग्रन्थ है। इसकी रचना सादू नागा के चारण कवि सेतसी ने की थी। इसमें महाभारत के अट्ठारह पर्वों का सारांश राजस्थानी की डिंगल शैली में लिखा गया है। इसमें दोहा, छप्पय, मोतीदान आदि कई छन्द काम में लिए गए हैं। इस ग्रन्थ की रचना 1737 ई. में हुई है।

'रघुनाथ रूपक'—यह ग्रन्थ राजस्थानी की डिंगल शैली के छन्दों का ग्रन्थ है। इसके रचयिता मंछाराम सेवग ब्राह्मण थे। यह 1806 ई. में लिखकर सम्पूर्ण हुआ। इस ग्रन्थ में नौ विलास हैं। प्रथम दो विलासों में वर्ण वृत्त, दग्धाक्षर

अक्षर त्याग, फळाफळ, वयरण-सगाई, काव्य दोष, अखरोट, रसो के नामभेद आदि का वर्णन हुआ है। शेष सात विलासों में 72 भाति के गीतो की विशेषताएँ उदाहरण सहित बताई गई है। उदाहरणों मे भगवान राम की कथा कही गई है, इसी वजह से इस ग्रन्थ का नाम रघुनाथ रूपक रखा गया है। राजस्थानी की डिंगल शैली के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है।

'रतन रासौ'—चारण कवि कुम्भकर्ण सांदू ने इस 'रासौ' की रचना की है। इसमें शाहजहा के पुत्रो की आपस की लड़ाई का वर्णन हुआ है। **'राजविलास'** और **'बाहुविलास'** की रचना किशनगढ के महाराजा राजसिंह ने की है। **'वल्लभ विलास'** की रचना वृन्द कवि के पुत्र वल्लभजी ने की। करौली राजघराने में जन्मे महाराज सुजानसिंह ने **'सुजान-विलास'** रचा। इसी काल मे छत्र कंवरि बाई, व्रजदासी, बणीठणीजी, चन्द्रसखि, प्रतापबाल जैसी कवियित्रियां भी हुई है जिन्हें अपनी रचनाओं से काफी ख्याति प्राप्त हुई है। **'चंद्रसखि'** के भजन मेवात के जन-मानस में प्रतिष्ठित हुए है।

'चुगलमुख चपेटिका', 'मावड़िया मिजाज,' 'कृपण दर्पण' और 'संतोष बावनी'—बाकीदास रचित ये रचनाएँ चारण कविता को कुछ अलग स्वर देती है। अब तक रचनाएँ राजाओ के गुणगान या ईश्वरभक्ति मे डूबकर लिखी गई। कवियों ने अपना ध्यान आम जनता से अलग रखा। अपने असमर्थ और निर्बल राजाओं को भी कविता छोड़ नही पाई थी। बांकीदास राजाओ की दुर्बलता और असमर्थता से भली-भाति परिचित थे। इसलिए उन्होंने आम जनता की तरफ ध्यान केन्द्रित किया। 'चुगलमुख चपेटिका', 'मावड़िया मिजाज', 'कृपण दर्पण' आदि उनकी रचनाएँ आम आदमी मे व्याप्त किसी न किसी कमी की तरफ इशारा करती है। 'संतोष बावनी' मे नैतिक व्यवहार की शिक्षाएँ है।

ये रचनाएँ राजस्थानी की डिंगल शैली में रची गई है। भाषा मे तत्सम् और तद्भव शब्दो का प्रयोग भी देखने को मिलता है। बाकीदास के बारे में विस्तृत अध्ययन मध्यकाल के प्रमुख कवियों के साथ यथास्थान किया जाएगा।

पौराणिक और धार्मिक काव्य

राजस्थान जहाँ वीरता का पर्याय रहा है वहाँ इस धरती पर धर्म की जड़े भी बहुत फली-फूली है। वीरो ने धर्म की रक्षा के लिए जहाँ अपने प्राण न्यौछावर किए है वहाँ रानियों-पटरानियों ने धर्म के लिए जौहर किया है। राजस्थान की धरती का साहित्य जहाँ वीरता का साहित्य है वहाँ 'शक्ति' की उपासना भी समर्पण भाव से देखी जा सकती है। मध्यकाल के कवियो ने धरती और धर्म से जुडकर भी अपनी रचनाएँ की है। मध्यकाल के चारण कवि स्वयं धार्मिक भावनाओ से सराबोर थे। इस युग मे 'रासौ' साहित्य मे वीरता और

भक्ति का सांगोपांग रचाव हुआ है। यह साहित्य वीरता और भक्ति से 'जड़ाजन्त' है। शृंगार और भक्ति का भी इसमें सम्मिश्रण मिलता है। पृथ्वीराज राठौड (प्रिथीराज राठौड़) की 'वेलि' इसका अनुपम उदाहरण है। खिडिया जग्गा और ईसरदास की रचनाओं मे जहां इतिहास विषयक बातें रची गई है वहां वीरता और उपासना भी सुपुष्ट तरीके से आई है। ईसरदास तो मध्यकाल के महान् भक्त कवियों में से गिने जाते हैं। चारण कवि ने पौराणिक और धार्मिक विषयों को वीरता के वर्णन के साथ सुन्दर ढंग से संजोया है और अपनी काव्य रचनाएँ की है। चारण तो अपना उद्भव 'शक्ति' से मानते है। वे अपनी जाति मे शक्ति की देवी के चौरासी अवतार मानते है, जिनमे आवडजी, महामाया, करणीजी आदि प्रमुख है। इन देवियों को लेकर चारण कवियो ने अपनी सशक्त रचना रची है।

राजस्थान की धरती पर अनेक उपासक हुए है। राजपूतों में भी शा की उपासना बहुत लोकप्रिय रही है। शक्तिपूजा पर इसीलिए राजाश्रय मे रहक काफी तादाद मे साहित्य रचा गया है। भगवान शिव और सती सावित्री राम-कृष्ण, पाण्डवो आदि को विषयवस्तु बनाकर बहुत सी अच्छी रचनाए सामने आई है। अभिमन्यु, प्रह्लाद को लेकर भी कई राजस्थानी रचनाएँ इ युग मे सामने आई है। सगुण-निर्गुण भक्ति की रचनाएँ भी इस काल में काफ मात्रा में रची गई है। केसोदास गाडण ने निर्गुण भक्ति के छन्द लिखे है। 15वं शताब्दी मे श्रीधर व्यास ने 'सप्तसदी रा छन्द' और खिडिया चारण ने 'माताजी र छन्द' सरीखी कृतियों की रचना की है। इसी काल मे तेजोजी चारण औ कान्होजी बारठ ने धार्मिक भावनाओं मे डूबकर अपनी रचनाएँ की है। 16वी शताब्दी मे जयसिंह ने 'हरिरासो' लिखा जिसमे उच्च स्तर की भक्ति भावना उजागर हुई है। अल्लूजी कविया राजस्थान के चारण कवियो में ख्याति प्राप्त भक्त कवि हुए है। उन्होंने छप्पय और डिंगल गीत लिखे है, जिन्हें वे राम-कृष्ण और सिद्ध गोरख नाथ की प्रशंसा मे स्वयं गाया-सुनाया करते थे। बारठ आसानंद के 'गुण-निरगुण प्राण' मे निर्गुण ब्रह्म की कविता लिखी गई है तथा धर्म निरपेक्षता के स्वर इनकी कविता मे आए है। पूंडोजी दधवड़िया ने 'गुण भाखड़ी', 'रामलीला', 'गुण चाणक वेलि' सरीखी रचनाएँ लिखी है। नाभादास ने अपनी पुस्तक 'भक्तमाल' मे 14 चारण कवियों का उल्लेख किया है, जिसमे नूंडोजी और अल्लूजी कविया का भी उल्लेख हुआ है। 'करमसी सांखलो' ने1540 ई. के आस-पास 'क्रिसनजी री वेलि' रची है, जिसमें रुकमणी के रूप का वर्णन बहुत ही प्रभावी ढंग मे हुआ है। इस वेलि के पद्य बहुत ही उत्कृष्ट है। पृथ्वीराज को अपनी वेलि लिखने की प्रेरणा सम्भवतः इन्हीं पद्यों मे मिली है। कुशल-लाभ ने दुर्गासप्तशती के आधार पर 'दुर्गा साताई' लिखी जिसकी कथा मार्कण्डेय

पुराण में आई है । चारण कवियों में बारठ ईसरदास बहुत बड़े भक्त कवि हुए हैं । इन्हें सिद्धियाँ प्राप्त थीं, ऐसा लोगों का मानना था और वे 'ईसरा सो परमेसरा' कहकर उन्हे पूजते । 'हरिरस', 'गुण भागवत् हंस', 'गुण रास लीला', 'गुण बाल लीला', 'गुण सभापर्व', 'गुण आगम' और 'गरुड़पुराण' जैसी पौराणिक विषयों को लेकर रचनाएँ की तो डिंगल गीतों में धार्मिक भावनाएँ प्रगटी । मध्यकाल वास्तव मे भक्ति भावनाओ का युग है । इस युग मे रचित प्रमुख कृतियो की विवेचना नीचे दी जा रही है—

'माताजी रो छंद'—यह प्रसिद्ध चारण देवी 'आवड़' की प्रशस्ति में रची गई कृति है । इन्हे देवी दुर्गा के अवतार के रूप मे माना जाता है । कृतिकार दुरसा आढ़ा ने इसे 'छन्द चालकनेस माताजी रो' भी कहा है । 'चालक' नामक राक्षस का संहार करने के कारण देवी 'आवड़' का 'चालकनेस' नाम प्रसिद्ध हुआ है । 'आवड़ नामक चारण कन्या 'मामड़' नामक चारण की सात पुत्रियो मे सबसे बड़ी थी । सिंध के शासक 'हमीर सूमरा' ने इनके रूप पर आसक्त होकर उनसे शादी करना चाहा था, पर आजीवन कौमार्य व्रत धारण करने वाली इस देवी ने सूमरा के राज्य का अन्त करके वहाँ भाटियों का आधिपत्य करवाया, ऐसी दन्त कथा है । तब से ही यह भाटियो की कुल देवी के रूप में पूजी जाती है । 'आवड' तूठी भाटियां' (अर्थात आवड़ भाटियो पर प्रसन्न हुई)—ऐसी उक्ति राजस्थान मे लोकप्रिय है । प्रस्तुत रचना में कवि ने इस देवी के पराक्रम और महात्म्य का वर्णन भक्तिपूर्वक किया है । प्रायः हरेक चारण कवि ने चारण देवियो की प्रशसा में गीत, कवित्त, दूहा आदि की रचना अवश्यमेव की है । दुरसा ने भी इसी आस्था की परम्परा का निर्वाह इस कृति में किया है । रचना का छन्द डिंगल छन्द शास्त्र का 'रोमकद' नामक प्रकार है ।

हरिरस—हरिरस भक्त कवि ईसरदास बारहठ की प्रसिद्ध और चर्चित रचना है । राजस्थान और गुजरात मे आज भी अनेक लोग इसका दैनिक पाठ करते है । इसका कारण इसकी सरल राजस्थानी भाषा और भक्ति तथा आध्यात्मपरक रचना होना है । यह लगभग 162-165 छन्दो की मुक्तक रचना है । इसमे परब्रह्म के निर्गुण और विशेषत. सगुण रूपावतारो का अनेकाविध गुणगान और आत्मनिवेदन किया गया है । जिसका उद्देश्य 'प्रेमा भक्ति' और 'कर्मबन्धन' से मुक्ति पाना है । विषय को मध्य नजर रखकर दृष्टिपात करें तो हरिरस के छन्द दो प्रकार के है । एक तो वे जिनमे भक्त कवि ने रचना के उद्देश्य तथा कर्म, जीव आदि विषयक कतिपय तात्त्विक प्रश्न उठाये है । दूसरे वे जो इस उद्देश्य के साधन स्वरूप है—अर्थात् भगवद्-गुणगान विषयक । ईसरदास ने अवतारो का नामोल्लेख करते हुए आरम्भ में सिद्धान्त की बात कही है कि भक्तों के दु.ख निवारण हेतु

प्रभु ने अनेक रूप धारण किए है। उनके चरित-वर्णन और गुणगान से मनुष्य का ससार से उद्धार हो सकता है, उसको जन्म एवं कर्मबन्धन से मुक्ति मिल सकती है—

माहरा क्रम मेटिवा माहव, क्रम हूँ कथिस तुहारा केसव।
नाम तुहारउ हूँ धरणनामी, सास-सास सभारिस सामी॥

कवि का यह आत्मनिवेदन है, जिसमें कवि कहता है, "मैं अपने कर्म-बन्धन नष्ट करने के लिए तेरे कर्मों का कथन करूँगा और श्वास-श्वास में तेरा नाम स्मरण करूँगा।"

'क्रिसन रुकमणी री वेलि'—इस विश्व प्रसिद्ध वेलि के रचयिता राठौड़ पृथ्वीराज (प्रिथीराज) बीकानेर के राजवंश के थे। 'क्रिसन रुकमणी री वेलि' का विश्व साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। इस वेलि की प्रशंसा देश-विदेश के अनेको विद्वानो ने की है। तेस्सितोरी ने इसे 'होरेश इन डिंगल' कहा है। कर्नल टॉड ने इसमें 'दस सहस्त्र घोड़ो का बल' बताया है। इस वेलि की काफी प्रतियाँ जूने पोथीखानों मे सुरक्षित है।

वेलि की कथा कृष्ण और रुकमणी के विवाह से जुड़ी हुई है। इसमें रुकमणी के बाल्यकाल, वयःसंधी, विवाह के लिए बातचीत, शिशुपाल की बारात का आना, रुकमणी का कृष्ण को संदेश भेजना, कृष्ण और बलराम का कुन्दनपुर जाना, रुकमणी शृंगर का वर्णन, रुकमणी देवी पूजने जाती है उसका वर्णन, रुकमणी हरण और शिशुपाल तथा रुक्म कुमार से युद्ध का वर्णन, वर-वधु का अलग मे मिलना और निशपगमन के शब्द चित्राम, ऋतु वर्णन और ऋतु विहार, कृष्ण के परिवार और गृहस्थी का वर्णन, वेलि का महात्तम आदि इस वेलि में वर्णित हुए है। कथा का मूल आधार भागवत्-पुराण है। भागवत् के दसवे स्कन्ध के अध्याय 52, 53 और 54 मे रुकमणी की कथा आई है, परन्तु कवि ने इस कथा को बीज रूप में ही स्वीकार किया है। कथा सयोजन मे कई रूढ़ियो का प्रयोग भी कवि ने किया है। जैसे रुकमणी लक्ष्मी का अवतार, मनचाहे वर हेतु गौर व शंकर की पूजा, सगाई हेतु घर मे बातचीत, रुकमणी का हरण आदि।

हालांकि वेलि एक खण्ड काव्य है परन्तु यह कोई छोटा-मोटा खण्ड काव्य नही है, इसकी काया का विस्तार महाकाव्य तक की ऊँचाई तक भले ही न हुआ हो परन्तु इसमे वह शक्ति है जो पाठकों को चकित कर देती है। कृष्ण वेलि का नायक है। कवि ने इसे परब्रह्म और मनुष्य—दोनो रूपो मे देखा है। रुकमणी वेलि की नायिका है। रुकमणी अनन्य प्रेमिका है। वह लक्ष्मी है, और सीता है। विष्णु की शक्ति और माया है।

वेलि में हरि महिमा, नगर वर्णन, स्वागत वर्णन, रुकमणी के रूप के चित्राम, युद्ध का वर्णन, प्रकृति चित्रण मे सन्ध्या और प्रभात का वर्णन, षट् ऋतु वर्णन—बहुत ही सशक्त रूपो मे हुए है। वेलि का छन्द छोटो सांणोर है। इसके तीनो भेद-वेलियो, सोहणो और खुड़द साणोर-का प्रयोग वेलि मे हुआ है। खुड़द साणोर का प्रयोग अधिक हुआ है। वेलि का रचना काल 1580 ईस्वी है इसमें 305 पद्य है।

निंदा स्तुति—इस कृति मे कवि ईसरदास बारहठ द्वारा परब्रह्म और उसके अवतारों की निन्दा में स्तुति की गई है। यह निन्दा अनेक प्रश्न, व्यंग्य, निष्कर्ष, स्पष्टोक्ति के रूप में है। इसमे कवि की भगवद् भक्ति, ईश्वर में निस्सीम विश्वास, उसके गम्भीर शास्त्र ज्ञान और चिन्तन का स्पष्ट बोध होता है, साथ ही इसमें समकालीन लोक-व्यवहार और मान्यताओ के संकेत, धर्माचरण की शिथिलताओं का चित्रण, हिन्दू-मुस्लिम एकता और समन्वय का प्रशंसनीय प्रयास है। ईसरदास की अन्य रचनाओं में ही नही, समस्त राजस्थानी काव्य मे यह एक अनुपम एवं अनूठी रचना है। इस कृति मे ईश्वर के निर्गुण और सगुण रूप विषयक अनेक प्रसंगों एवं कथाओ के उल्लेख है जिनमें नृसिंह, राम, कृष्ण, कलियुग आदि प्रमुख हैं। यह विश्व किसलिए बना है, क्यों नष्ट करता है, क्यों किसी को नरक और किसी को स्वर्ग देता है, आदि कई गूढ बातो की चर्चा कर ईश्वर को सम्बोधित किया गया है।

"तूं नौकरो के हाथो मालिको को मरवाता है। तूंने दुर्मन को मरवाया""मरने वालों को तूं कुमौत मरवाता है, जगत की रचना कर तुम खुद ही दुःखी हुए हो, अपनी बुद्धि में तुम स्वयं ही बंधे हो ""तुम पान चरते हुए ही खाल निकलवाते हो। देवो ने जब मंथरा को कैकेयी की मति पलटने हेतु भेजा तो तूंने उसकी मति ठीक नही की, फिर तूंने कैकेयी की मति भी फेरी""उडीसा मे तूं जगन्नाथ कहलाता है। परन्तु वहां भी तूं बिना अपनी स्त्री के ही विराजमान है।""तूं जैन धर्म में जा मिला और लोंकागच्छ, तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि सामने आए""तूं नए-नए नाम धारण करता है। तूं मरों को जिलाता है और जीवितो को मारता है।" इस प्रकार भक्ति और आध्यात्म की बातें इस कृति में आई है।

'वसदेरावउत रा दूहा', 'दशरथदेवउतरा दूहा', और 'बल्लभदेवउत रा दूहा'—ये तीनों कृतियां पृथ्वीराज राठोड़ रचित है। 'वसदेरावउत रा दूहा' मे कृष्ण के विभिन्न प्रसंगों का वर्णन मिलता है और कृष्ण-भक्ति की महिमा गाई गई है। इस कृति को 'दशम भागवत रा दूहा', 'ठाकुरजी रा दूहा' 'किसनोजी रा दूहा' नाम से भी कहा गया है। कृष्ण को राजस्थानी ढंग से 'वसदेरावउत' कहना राजस्थान की सांस्कृतिक विशेषता है। कृति में दूहे न होकर सोरठिया दूहे अथवा सोरठे है। पृथ्वीराज ने दूहे कम ही लिखे हैं। अन्य रचनाएं भी प्रायः सोरठों मे ही

हैं। इस कृति मे हर सोरठे के अन्त मे 'वसदेरावउत' आता है। ऐसे सोरठो की प्राचीन परम्परा रही है। ऊजळी-जेठवा के प्रसिद्ध सोरठे भी इसी शैली के है। उनमे भी हर सोरठे के अन्त मे 'जेठवा' शब्द आता है। इसी शैली पर आगे चलकर 'राजिया', 'मोतिया', 'भैरिया' आदि सम्बोधनों से नीति विषयक सोरठे रचे गएं। इस कृति का एक सोरठा द्रष्टव्य है—

तूं आयो तूं आइ, सब ही दिन भगतां संगठ।
सिमरीजतां सहाइ, विलँब न वसदेरावउत॥

'दशरथदेवउत रा दूहा' जिसे 'रामचन्द्रजी रा दूहा' नाम से भी कहा गया है मे दशरथ पुत्र राम के महान् कार्यो की स्तुति गाई गई है, और विष्णु अवतार के रूप मे देखकर राम को साक्षात् ब्रह्म मानकर समर्पण किया गया है। जन्म, बाल्य-काल, धनुष-भंग, अहिल्या-उद्धार, लंका पर आक्रमण, रावण वध और विभीषण को राज्य देने तक का वर्णन इस कृति मे हुआ है। राम और कृष्ण में विभेद करते हुए कवि ने अपना साहित्य उन्हें ही समर्पित कर आत्म सुख पाया है—

प्रभुताइ किया प्रवीत, जाइ समरपिया सरवनर।
गाह कवित छंद गीत, दूहा दसरथदेवउत॥

'वल्लभदेवउत रा दूहा' मे कवि ने सोरठों में अपने गुरु विट्ठलनाथ की वन्दना की है।

'रुकमणी हरण', 'नागदमण'—कृष्ण भक्त कवि सायांजी ने अपने इष्टदेव की भक्ति मे 'रुकमणी हरण' और 'नागदमण' की रचना की। 'रुकमणी हरण' मे कृष्ण-रुकमणी के विवाह का वर्णन है। लोक में 'रुकमणी हरण' को 'वेलि कृष्ण रुकमणी री' से अधिक अच्छा माना गया है। परन्तु साहित्यिक दृष्टि से 'वेलि' का कोई मुकाबला नही है। 'वेलि' काव्य कला की दृष्टि से भी अनूठा काव्य-ग्रंथ है। 'रुकमणी-हरण' काव्य कला की दृष्टि से साधारण ग्रंथ है। हां, दोनो में कथ्य की समानता है। देश काल की समानता है। दोनो कवि समकालीन थे। सायाजी भी अकबर के समकालीन थे।

'नागदमण' सायांजी का छोटा खंड-काव्य है। इसमे कालिय-दमन की कथा आई है। इसमें कृष्ण की किशोरावस्था, यशोदा का वात्सल्य, गोपियो का प्रेम और कृष्ण कालिय युद्ध के सुन्दर शब्द चित्राम है। सायांजी ने 'अंगद-विष्टि' नाम से भी पौराणिक कथानक लेकर एक ग्रन्थ रचना लिखी है।

'महादेव पारवती री वेलि'—16 वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किसन नामक एक ब्राह्मण कवि ने इस वेलि की रचना की है। इसमे 382 पद्य हैं। गंगावतरण और शिव-पार्वती के विवाह पर यह एक वर्णनात्मक काव्य-ग्रंथ है। मंगलाचरण, हरि महिमा, राजा सगर की अश्वमेध रचना, भागीरथ की तपस्या और गंगावतरण, सती का जन्म और उसका रूप वर्णन, सती के विवाह के निए

दक्ष की तरफ से नारियल भेजना, विवाह की तैयारी, बारात, सती के शृंगार, सती ग्रौर शिव का विवाह, दक्ष का यज्ञानुष्ठान, सती का यज्ञ में जाना ग्रौर भस्म हो जाना, शिव ग्रौर दक्ष की सेना में युद्ध, पार्वती का जन्म, विवाह की चर्चा, विघ्न-बाधाएँ, पार्वती का शृंगार, विवाह ग्रौर सुर-ग्रसुर युद्ध का वर्णन इस वेलि मे ग्राए है। रावत सारस्वत ने इस वेलि का संपादन करते वक्त इसके रचयिता का नाम दुरसा ग्राढ़ा के पुत्र 'किमना ग्राढ़ा' को बताया है।

'राम रासो'–राम रासो की रचना 1595 ई. में हुई थी। इसमें 1034 पद्य है। इसके रचयिता कवि माधोदास दधवडिया जाति से चारण थे। दधवड़िया चारणों की एक खाप है। यह एक महाकाव्य है। माधोदास भक्त कवि हुए है। ग्रपने इष्टदेव राम की कथा पर उन्होने इस रासो की रचना की है। मध्यकाल में पौराणिक ग्रौर धार्मिक ग्रंथों में यह एक उल्लेख करने योग्य कृति है।

'देवी स्तुति'–यह कृति करणी देवी की स्तुति में रची पृथ्वीराज राठौड़ की ग्रनूठी कृति है। भगवती करणी बीकानेर राजवंश की ग्रधिष्ठात्री देवी रही है। वैसे 'नागणेची' भी राठौड वंश की इष्ट देवी रही है परन्तु करणी ने राव बीका को राज्य स्थापना में जो मदद की तथा राव जैतसी को कामरान से हुए युद्ध में विजय दिलाई, उन घटनाग्रो के प्रति नत-मस्तक बीकानेर राजवंश मे करणी माता की सर्वाधिक मान्यता रही है। पृथ्वीराज जैतसी के पौत्र ही थे। ग्रत. यह स्वाभाविक ही था कि पृथ्वीराज भी करणी के प्रति उच्चस्तरीय श्रद्धा रखते। पृथ्वीराज के जीवन मे भी देवी की मदद का प्रसंग ग्राया बताया जाता है। यह कृति एक स्तुति है।

'गुण ग्रागम'—इस ग्रंथ मे भगवान के भविष्य मे होने वाले कल्कि ग्रवतार । वर्णन किया गया है। कवि ने बताया है कि भगवान प्रजा-पालन, वेद धर्म की रक्षा ग्रौर साधु-पुरुषो के उद्धार के लिए कल्कि रूप मे ग्रवतरित होगे ग्रौर 'किलंग' का वध करेंगे। उनके साथ सभी देवता, पाँचों पाडव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, अंगद, सिद्ध, नौ नाथ सहित हुसैन ग्रौर उनके ग्रनुयायी ग्रादि भी होंगे। दुनिया पर दया करेंगे, मेघ कन्या-वसुधा से विवाह करेंगे, दुष्टों का दमन कर 'निकळंक नाथ' कहलायेंगे तथा पुनः सत्य-युग का प्रारम्भ करेंगे। इसमें कवि ने प्रकारात्मक में हिन्दु-मुस्लिम एकता, कर्मफल की ग्रनिवार्यता ग्रौर दीन-दयालु, जन-रक्षक, दुष्ट-संहारक प्रभु के एक भावी ग्रवतार का वर्णन कर लोक को ग्राश्वस्त किया है। कुछ छंद इस प्रकार है—

पाचइ पांडव पड़ा पासे, पड़े पंड पुरसाण।
मिलि सतरि सहस हुसैनीयां वलिवंत जोध जुग्रांण।
माहव माही मेघमंडळि, ग्राविसै एकार।
वाणिया वांभणा कावि, वहिसै हुइसै एकूंकार।

यह कृति भक्त कवि ईसरदास बारहठ रचित है।

'भागीरथी रा दूहा'—इस कृति के अन्य नाम 'गंगाजी रा दूहा' 'जाह्नवी रा दूहा' है। समस्त विश्व मे एक ही ब्रह्म को व्याप्त देखते हुए पृथ्वीराज ने भागीरथी और भगवान को समान रूप मे देखा है। इसमे कवि की उच्चकोटि की दार्शनिक दृष्टि का प्रमाण मिलता है। गंगा का पापनाशक माहात्म्य, तीनो भुवनो मे व्याप्ति, अवगाहन का प्रताप, मुक्ति प्रदायिनी महिमा, भवसागर-उद्धारक-परम्परा, जल-पान से पाप-क्षरण, अपराध-क्षमापन, सकलतीर्थ-फल-प्रदान आदि परम्परागत उक्तियाँ इन दूहो के विषय है। शिव की जटाओ से इसका प्रादुर्भाव तथा राजा सगर के साठ हजार पुत्रो के उद्धार की बात भी कही गई है।

'राजिया रा दूहा'—ये दूहे मध्यकाल के लोकप्रिय कवि कृपाराम खिड़िया रचित है तथा अपने नौकर 'राजिया' को सम्बोधित हैं। ये नीति-प्रधान दूहे है। लोक मे 'राजिया रा दूहा' नाम से लोकप्रिय है। इनकी सख्या 165 के लगभग है। इसमे आचार-विचार, लोक-व्यवहार सम्बन्धी बातें आई है। दूहो की भाषा सरल और भाव सरस है। राजस्थानी के मूल शब्दो का प्रयोग बहुतायत मे हुआ है। मध्यकालीन रचनाओं मे 'राजिया रा दूहा' का ऊँचा स्थान है।

'गुण गोबिन्द'—इस कृति की रचना 1643 ई. में हुई है। कृति राजस्थानी की डिंगल शैली मे लिखी गई है। कृतिकार कल्याण दास राव जाति से भाट थे। कवि मेवाड के 'समेला' गाँव के रहने वाले थे। इस कृति मे भगवान राम और कृष्ण की लीलाओ का बहुत ही सरस और भावपूर्ण वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ मे 197 छंद हैं। एक बानगी यहाँ द्रष्टव्य है—

> र व र व लंब कदंब, अम्ब, मदमत्त मत्तसरि
> कर मोदक उद्र लंब, करत प्रणाम कृपा करि।

कृति की रचना कवि ने समर्पण भाव से की है।

पौराणिक और धार्मिक अन्य रचनाओं मे बालकाड पर आधारित भगवान राम के चरित्र को लेकर महेशदास राव (1644–1698) ने 127 पद्यों की **'रघुनाथ चरित'** नामक रचना लिखी। भगवान राम की कथा पर ही मुंहता रघुनाथ ने 1668 में **'रुघ रासो'** रचा। कृष्ण को समक्ष रख विट्ठलदास ने 1643ई. और 1670 ई. के मध्य **'रुकमणी हरण'** लिखा। आईदान गाडण की अपूर्ण कृति **'श्री भवानी शंकर रो गुण शिव पुराण'** मिलता है। परन्तु केसरीसिंह जैतावत की कृति **'पंखी पुराण'** बहुत लोकप्रिय हुई है। इसमें पशु-पक्षियो के प्रतीको के माध्यम से ससार का ज्ञान कराया गया है। करणीदान (1693–1783) ने **'सूरज प्रकास'** में भगवान का चरित वर्णन करते हुए राठौड़ों को राम से सम्बन्धित बताया है। 18 वी शताब्दी के प्रथम अर्द्ध भाग में पीरदान लालस ने **'नारायण नेह'**, **'परमेश्वर पुराण'**, **'हिंगळाज रासो'** रचे जो भक्ति प्रधान ग्रंथ हैं। महाराणा अजीतसिंह योद्धा के साथ-साथ अच्छे कवि भी हुए है। उन्होने **'गुणसार'** और **'गज उद्धार ग्रंथ'** सरीखे

काव्य ग्रंथ लिखे है। 'गुणसार' में ये विविध रचनाएँ संकलित है परन्तु 'गज उद्धार ग्रंथ' में 'गज' और 'ग्राह' की पौराणिक कथा लेकर इस काव्य-ग्रंथ की रचना हुई है। इसी तरह 1719 ई. मे 'माताजो री वचनिका' 'जती जयचन्द' रचित मिलती है। जती जयचंद एक जैन कवि हुए है। उन्होने इस ग्रंथ मे दुर्गा की कथा आंचलिक भावों में कही है। 1718 ई. में बारहठ मुरारिदान ने 'गुण विजय ब्याव' 250 पद्यो मे लिखी। इसमे कृष्ण-रुकमणी की पौराणिक कथा आई है। हरिदास लालस ने महाभारत के सभापर्व को लेकर 'गुण सभाप्रव' लिखा। 'गुण रामावतार नीसांणी' बारहठ नरहरिदास रचित भक्तिभावपूर्ण रचना भी सामने आती है। भक्त कवियों में ओपा आढ़ा का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होने कई डिंगल गीत रचे हैं। ये गीत भक्ति का मार्ग दर्शाते है। मध्यकालीन पौराणिक एवं धार्मिक चारण काव्य के ये अन्तिम कवि है। इस तरह मध्यकाल मे पौराणिक कथानको को लेकर मध्यकालीन कवियो ने सरस, सरल और लोकप्रिय रचनाओं की रचनाकर मध्यकाल को ओजस्वी, अनुपम और अनूठे पौराणिक धार्मिक काव्य से सजाया है।

आख्यान काव्य

आख्यान काव्य मध्यकालीन राजस्थानी कविता की एक प्रमुख विशेषता है। इस काल में कई आख्यान काव्य रचे गये। प्रमुख आख्यान काव्यो की चर्चा नीचे की जा रही है।

'कपा प्रद्युमनो'—अभिमन्यु को मध्य नजर रखकर इस काव्य कृति की रचना की गई है। अभिमन्यु महाभारत मे एक वीर पुरुष के रूप में वर्णित एक अनूठा पात्र है। वही इस आख्यान काव्य का नायक है। मारु सोरठ आदि कई रागों मे लिखा गया यह काव्य ग्रंथ लोगो के गाने के लिए रचा गया। इस काव्य कृति मे 717 पद्य है। जिसमे दोहा, चौपई और छंद प्रयुक्त हुए है। कथा में आंचलिक पुट ने इस काव्य कृति को बहुत भव्य रूप प्रदान किया है। इसमें कई प्रसंग आए हैं जैसे कृष्ण और महदानव, सुभद्रा और कृष्ण, कुंती, सुभद्रा और अभिमन्यु आदि। इसमें पारिवारिक वातावरण चित्रित हुआ है तथा साधारण आदमी की भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। कुंती-सुभद्रा का प्रसंग बड़ा मार्मिक है जिसमें अभिमन्यु को युद्ध में भेजने हेतु अनुमति देने की बात आई है।

'किसनजी री ब्याहलो' (रुकमणी मंगळ)—उत्तरी एवं पश्चिमी राजस्थान क्षेत्र मे यह कृति बहुत लोकप्रिय हुई है। इस क्षेत्र की इसे भागवत भी कहा जा सकता है। इसके रचयिता पदम भगत थे। इसका रचना काल संभवत: 1493 और 1005 ई. के बीच रहा है। यह 265 पद्यो का एक आख्यान काव्य है। यह लोगों द्वारा गाए जाने के लिए लिखा गया है। इसमें मारु सोरठ, हुंसो, रामगिरि आदि कई रागों का प्रयोग किया गया है ताकि लोग संगीतात्मक रूप मे इसे गा सकें। यह भक्ति रचना है परन्तु जहां-तहां वीर रस भी आया है। इसमे कृष्ण-रुकमणी

के विवाह की कथा काव्य में संगीतात्मक शैली मे चित्रित हुई है। परन्तु कंस सारी कथा में छाया-सा रहता है और एक नायक के रूप में आता-सा दिखाई देता है।

मेहोजी कृत रामायण (1483–1544)—मेहोजी ने इस कृति की रचना 1518 ई. के आस-पास की थी। इसमे 261 पद्य है। इसमें दूहा और छप्पय का प्रयोग हुआ है। इस कृति मे राम कथा लोक भाषा मे आंचलिक रंग मे रंग कर लिखी गई है। राम कथा पर यह एक प्रारम्भिक आख्यान काव्य है। इसमें कई रागों का प्रयोग हुआ है। जैसे-रामगिरि, मल्हार, हंसो आदि। कृति के काव्य मे अभिव्यक्ति का स्वरूप अवलोकनीय है—

कोटे सोहै कागरा, भीतें सोहै चीत।
रावळ देवळ टाल्य कँ, काय सराही सीत ॥

स्वर्ण मृग का छल इन पंक्तियो मे द्रष्टव्य है—

सुंण्य सीतां लक्षमंण कहै, सोवंन मिरघ न होय।
राम विछोहंण तंम छळंण, दांणो हुंडै कोय ॥

सीता-हरण के पश्चात् राम की मनोदशा का चित्रण भी अवलोकनीय है—

एकल काठी ना जगै, नां उजियाळो होय।
सीता गई लछमंण मारियै, राम अकेलो होय ॥

हनुमान आकर सीता को मुंदरी देता है तो सीता आश्चर्य कर-कर कहती है—

आडा डूंगर वोभवंण, विच मास्कळा गयंद।
सीत कहै रे बंदरा, किण विधि रे नरक छोपिया समंद ॥

लोकभाषा मे लिखा गया यह एक बहुत ही सुन्दर आख्यान काव्य है। संगीतात्मक गेय शैली मे होने की वजह से लोक कंठो मे इसकी भाषा मे भी परिवर्तन आया है। जैसे—

इकली लकड़ी ना जळे, ना उज्याळो होय।
लिछमण भाई को मारंता, राम अकेलो होय ॥

ऐसे ही 'राम खुदाई बावड़ी सीताजी पणिहार' आदि कई पद्यो का रूप परिवर्तित हुआ है। शेखावाटी क्षेत्र मे इसके दोहे ढ़ाने मे चड़स पकड़ते माली राग मे अवसर बोलते है। इससे पता चलता है कि यह आख्यान काव्य काफी लोकप्रिय रहा है।

'प्रहलाद चरित'—केसोदास गोदारा (1573–1679) ने चार आख्यान काव्य लिखे है–'कथा भीवं दुसासणी,' 'कथा सुरगारोहिणी,' 'कथा बहसोवाणी' और 'प्रहलाद चरित'। ये भी लोगो के गाने के लिए विभिन्न रागो में लिखे गए है।

मारु धनाक्षरि, केदारो, सोरठ, हंसो, मल्हार आदि रागों का प्रयोग इनमें किया गया है तथा दोहा और छप्पय मे ये कृतियां लिखी गई है।

'कथा भीव दुसासणी' में दुशासन की मृत्यु का प्रसग भीम के हाथो वर्णित है। इसमें 66 पद्य है। कथा में द्रौपदी के अपमान का बदला दिखाया गया है। 'कथा सुरगारोहिणी' मे पाडवों के स्वर्ग आरोहण को बताया गया। 'कथा बहसोवाणी' में पाडू राजा के नरक मे जाने और स्वर्ण यज्ञ का वर्णन आया है। 'प्रहलाद चरित' में प्रहलाद की कथा कही गई है।

'प्रहलाद चरित' केसोदास की उत्कृष्ट रचना कही जा सकती है। इस रचना का काव्य सौन्दर्य अनूठा है तथा अपनी लोकप्रियता के कारण यह कृति केसोदास की अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक ऊँचा स्थान रखती है। इसमे पशुओं के प्रेम और शंकर-पार्वती के अनेकानेक वरदानों के साथ हिरण्यकश्यप के जन्म का पौराणिक किस्सा भी वर्णित हुआ है, साथ ही कथा मे मानवीय भावनाओं के साथ प्रहलाद का चरित वर्णित हुआ है।

'कथा उवापुराण'–मध्यकालीन आख्यान काव्यो मे 'कथा उपापुराण' अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। लोकप्रिय धुनों में गाने हेतु सुरजनदास पूनिया ने इसकी रचना की है। इसमे 232 पद्य है। इसमें उपा और अनिरुद्ध के प्रेम-प्रसंग का वर्णन लोकप्रिय धुनो में किया गया है। पौराणिक कथाओं के अनुसार कंस और शिव के मध्य जो युद्ध हुआ उसका भी वर्णन इस रचना में आया है।

उपरोक्त प्रमुख आख्यान काव्यों के अतिरिक्त मध्यकाल मे कवि परशुराम ने 13 लीला कविताएँ लिखी। ये कविताएँ 16वी शताब्दी मे लिखी गई। इनमें से 'भ्रमरबोध', 'नामनिधि' बहुत लोकप्रिय हुईं। ये वर्णनात्मक आख्यान काव्य है। 18 वी शताब्दी में इसे गोरधनजी जो चूरू जिले के जसनाथी परम्परा के राजपूत कवि हुए है, ने 'गोर व्याहलो' नाम से 121 पद्यों का आख्यान काव्य लिखा। इसमें पौराणिक ढंग से शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन किया गया है। लोक भाषा मे लिखा हुआ यह लोक परम्पराओं को उजागर करता सुन्दर आख्यान काव्य है। इसी तरह उदोजी रचित 'हरिचंद पुराण' और 'प्रहलाद पुराण' भी मिलते है। 17 वी शताब्दी मे 'किसन व्यावलो' रुस्तमजी का लिखा मिलता है तो 18 वी शताब्दी मे सखनी के 'सीत पुराण' और 'हरकीरत पुराण' सामने आते है। इन आख्यान काव्यो ने मध्यकाल को एक काव्यगत् पहचान दी है और ऐसी ही पहचान इस काल को संत-साहित्य ने दी है। जिनमे मध्यकाल जगमगाता है।

मध्यकाल के प्रमुख रचनाकार

राजस्थानी साहित्य के आगे का अध्ययन शुरू करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पहले हम मध्यकाल के उन प्रमुख रचनाकारों का परिचय प्राप्त

करलें जिन्होने रचनार्धमिता का निर्वाह कर राजस्थानी के साहित्य को भारतीय साहित्य मे ऊँचा स्थान दिलाया है। यहाँ उन लेखकों की भी चर्चा की जाएगी, जिन्होंने राजस्थानी के लेखन को एक मोड़ दिया है। उनके कृतित्व एवं व्यक्तित्व का अध्ययन निम्न प्रकार है—

बांकीदास—राजस्थान के कवियों ने विशेषतः चारण कवियों ने अपनी मीमाओं का अतिक्रमण करके भी देशकाल में व्याप्त अपमानजनक स्थिति के प्रति विद्रोह किया है। अकबर के दरबार मे दुरसा आढ़ा ने ऐसे स्वर उगले थे। अँग्रेजी राज्य को ललकारने मे अपने विकट साहस और प्रचंड मनोबल का परिचय भी चारण कवियो ने दिया है। इन विद्रोही कवियो में कालक्रम की दृष्टि से पहला नाम बाकीदास आशिया का है जिन्होने जोधपुर नरेश का काव्य-गुरु होते हुए भी देश की जनता को अँग्रेजी राज के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए ललकारा था।

बांकीदास का जन्म मारवाड मे भाडियावास ग्राम में सन् 1781 मे हुआ था। इनके पिता फतेहसिंह भी काव्य मर्मज्ञ थे। आयस देवनाथ के माध्यम से इनकी पहुँच मानसिंह तक हो गई थी। वे स्वयं एक सिद्ध कवि थे। वे बाकीदास की काव्य प्रतिभा और वाक्चातुरी से इतने प्रभावित हुए कि इन्हें राजकवि के साथ ही अपना काव्यगुरु भी बना लिया। वे स्वछंद स्वभाव के थे। मानसिंह के आश्रित होते हुए भी खरी कहने से कभी नही डरते थे। सम्भवतः बांकीदास की प्रेरणा से ही महाराज मानसिंह ने कई बार सधि की शर्तो का उल्लघन करके कम्पनी सरकार को चुनौती दी थी।

चारण कवियों को जो दिशा दुरसा आढ़ा ने दी बांकीदास ने उस कविता को जनता से जोड़ने की चेष्टा की। राजाश्रय मे रहते हुए एक स्वर दुरसा आढ़ा मे प्रस्फुटित हुआ तो दूसरा बाकीदास की कविता मे, फिर ओपाजी ऊमरदान लालस संकर सामोर के साथ राजस्थानी कविता अपने उज्ज्वल भेप मे आ जाती है।

बाकीदास ने अपने गाँव में ही पढ़ना-लिखना सीखा। जब वे सोलह वर्ष के थे तभी जोधपुर आ गए थे। अपनी योग्यता और व्यक्तित्व के बलबूते पर ही वे राजघराने तक पहुँचे। मानसिंह ने इन्हे 'कविराजा' की उपाधि से सम्मानित किया और पग मे सोने का कड़ा और 'बाह पसाव' देकर कवि का मान बढ़ाया। बाकीदास संस्कृत, फारसी और व्रजभाषा के अच्छे जानकार थे। डिंगल मे वे सिद्धहस्त थे। बाकीदास आशुकवि हुए है। 'जसवन्त जसो-भूषण' के रचयिता मुरारीदान इन्ही के प्रपौत्र थे। इनका स्वर्गवास 1833 ई. मे हुआ है।

बांकीदास डिंगल के प्रसिद्ध कवियों में से एक है। सौभाग्य सिंह शेखावत ने इनकी रचनाओं का सम्पादन कर 'बांकीदास ग्रन्थावली' बनाई है। वैसे

बांकीदास ग्रन्थावली नाम से और कई विद्वानों ने भी कुछ कार्य कवि बांकीदास पर किया है। वांकीदास राजाश्रय मे रहकर भी सामाजिक बुराइयों के प्रति सचेत थे। 'चुगल-मुख चपेटिका', 'वैसकवार्ता', 'मावडिया मिजाज', 'कृपरण-दर्पण', 'कुकवि वत्तीसी', 'कायर बावनी' इनकी सामाजिक बुराइयों पर लिखी रचनाएँ है। 'जेहड़-जस जड़ाव', 'भुरजाळ-भूषण', 'हमरोट छत्तीसी', 'सिद्धराव छत्तीसी' आदि के अतिरिक्त कई ऐतिहासिक रचनाएँ भी वांकीदास ने रची है, जिनमें नगरों और स्थानों का वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त 'गंगा लहरी', 'राधिका शिख-नख', 'मोह-मर्दन' जैसी धार्मिक पुस्तकें भी सामने आई है। 'नीति मंजरी', 'मोह मंजरी', 'वचन विवेक पच्चीसी', 'संतोष बावनी' आदि मे नैतक-व्यवहार की शिक्षाएँ है। नीति और उपदेश सम्बन्धी कविताओं मे बांकीदास ने दुर्जनो, कायरों, मूंजियों, कुकवियों, चुगलखोरो आदि के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया है। उनकी निंदा की है। कही-कही भावुकता वश उन्होने अति भी की है। वांकीदास को अलंकारों का बहुत अच्छा ज्ञान था। इस वजह मे रचनाएँ इनमे अलंकृत हुई है।

बाकीदास राजाओं की असमर्थता और दुर्बलता से भली-भांति परिचित थे। इसलिए उन्होने आम जनता की तरफ अपना ध्यान केन्द्रित किया। उनकी 'चेतावनी रा गीत' राजस्थानी ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध खुली ललकार का पहला दस्तावेज है—

आयो इंगरेज मुलक रै ऊपर, आहस लीधा खैंचि उरा।
धणिया मरै न दीधी धरती, धणिया ऊभा गई धरा॥
फौजा देख न कीधी फौजा, दोयणा किया न खला डळा।
खवा खांच चूडै खावद रै, उणहज चूड़ै गई यळा॥

बाकीदास के एक-एक शब्द में अथाह करुणा और असीम आक्रोश का समुद्र उमड़ता दिखाई देता है। बाकीदास का अंग्रेजों के प्रति आक्रोश उनके कतिपय डिंगल गीतों में और भी स्पष्टता और प्रखरता से मुखरित होता है।

कुछ अन्य तरह की रचनाएँ भी कवि ने की है जिनमे एक विशेष दृष्टि है—

सादूलो वन माहिवो, खाटै पग-पग खून।
कायरड़ा इण काम नूं, जबूं क कहै जवून॥
मयंद धपावै मोतिया, हंसा लापणियाह।
रहै नही जुध रोकियो, श्री धारां अणियाह॥
नर कायर आणै नही, लूण निहाज नगार।
घोडै दिन छोडै धणी, मरणी मिलै उण वार॥

बादळ ज्यूं सुर धनुष विण, तिलक विना दुज पूत ।
बनो न सोभै मोड विण, घाव विना रजपूत ॥

इस तरह से बाकीदास ने जहां नीति, आचार, व्यवहार आदि की रचनाएँ लिखी वहां साम्राज्य विरोधी स्वर भी कविता को दिया और जनता को अँग्रेजी शासन के विरुद्ध खड़ा होने का आह्वान किया। डॉ. कन्हैयालाल सहल ने उनके राष्ट्रीय व्यक्तित्व को उजागर करते हुए लिखा है कि वर्तमान हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना का श्रीगणेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काल से होता है, किन्तु भारतेन्दु की देशभक्ति राजभक्ति के साथ चलती थी और उनकी राष्ट्रीयता भी जातीयता की पोषक थी। किन्तु यह जानकर किसे आश्चर्य न होगा कि भारतेन्दु से भी बहुत पहले बाकीदास नामक एक राष्ट्रीय कवि ने जातीयता की भावना से ऊपर उठकर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की राष्ट्रीय भावना को व्यक्त किया था। बाकीदास भारतेन्दु के जन्म के सतरह वर्ष पूर्व ही स्वर्ग सिधार गए थे। हिन्दू और मुसलमानों दोनों को ललकारते हुए कि कोई तो आगे आकर अपनी मर्दानगी का सबूत दें कि वे अँग्रेजों को कुचलने के लिए कमर कसेंगे—

'राखो किहिक रजपूती, मरद हिन्दू की मुसलमान'। बाकीदास का चारण कवियों में बहुत ऊँचा स्थान है।

दुरसा आढ़ा—दुरसा आढा का जन्म भूतपूर्व जोधपुर राज्य के धूंदला गांव में 1538 ई. में हुआ था। छोटी उमर में ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात् बगडी गांव के ठाकुर प्रतापसिंह ने इनको पाला और बड़ा किया। फिर अपने पास ही नौकर रख लिया। यह बात दुरसा के दोहे से स्पष्ट होती है—

माथै मावीताह, जनमतणो ब्यावर जितो।
सोहड़ सुध पातांह, पाळणहार प्रताप सी॥

दुरसाजी अकबर के दरबार में अकबर के प्रिय कवि थे। उन्होंने मात्र कविता ही नहीं की, अकबर की तरफ से युद्धों में भी गए। कविता से जितना धन, यश और मान दुरसाजी को मिला उतना सम्भवतः किसी अन्य कवि को नहीं मिला है।

दुरसा जी का पूरा नाम दुरगादत्त था। आढा चारणों की एक शाखा है जिसका नामकरण उनके मूल निवास भूतपूर्व जोधपुर राज्य के मारवाड़ी परगने के गांव 'आढा' के कारण हुआ है।

कहा जाता है कि दुरसा के जन्म के समय जब 'थाळ' बजाया जा रहा था गुजरात में दिल्ली की तरफ जाते हुए एक मौलवी उधर से गुजरे और

उन्होंने उस सायत को शुभ देखकर दुरसा के भाग्यशाली होने की भविष्यवाणी की।

यह भी मान्यता है कि बाल्यकाल में दुरसाजी एक 'सीरवी' किसान के यहाँ नौकर थे। एक दिन उस किसान ने, सिंचाई करते समय नाले की मिट्टी बह जाने के कारण, दुरसा को मिट्टी के स्थान पर लिटा दिया और सिंचाई करने लगा। उसी समय समीपवर्ती बगड़ी के ठाकर प्रतापसिंह उधर से निकले और वे दुरसा को अपने साथ ले आए।

एक दंत कथा के अनुसार 'करणी' देवी दुरसाजी के कुल में ही जन्मी थी।

दुरसाजी के दो विवाहित सजातीय स्त्रियाँ और एक 'केसर बाई' नामक पासवान थी।

दुरसाजी का घटनापूर्ण जीवन है। अकबर तक पहुँचने की भी एक घटना है। सन् 1571 ई. में अकबर आगरे से अहमदाबाद जाते वक्त पाली परगने के 'गूंदोज' गाँव में ठहरे। बगडी के ठाकुर प्रतापसिंह ने अकबर के ठहरने का प्रबन्ध-भार दुरसाजी को सौंपा। बगडी के ठाकुर दुरसाजी को साथ लेकर वहाँ मुजरे के लिए हाजिर हुए। इस अवसर पर दुरसाजी ने अकबर की प्रशंसा में एक छन्द सुनाया जिससे खुश होकर अकबर ने इन्हें एक हाथी और 'लाखपसाव' (एक लाख मूल्य का दान) दिया। जोधपुर का लक्खाजी अकबर का दरबारी कवि का। उन्होंने ही दुरसाजी की अकबर से सलामी करवाई। दुरसाजी ने लक्खाजी की प्रशंसा में एक दूहा बनाया है—

दिल्ली दरगाह अंब तरू, ऊँचो फळद अपार।
चारण लक्खो चारणां, डाळ नमावणहार॥

अकबर तक पहुँचने में ऐसे ही बैरामखां की दंत कथा है। एक बार दुरसाजी 'पुष्कर' स्नान करने के लिए गए। उसी समय बैरामखां (उस समय अकबर का अभिभावक) अजमेर आया हुआ था। दुरसाजी ने उससे मिलने का प्रयास किया परन्तु बैरामखां के लोगो ने उन्हे मिलने नही दिया। इस पर उन्होंने एक युक्ति सोची। एक दिन जब बैरामखां बाहर जा रहा था तो दुरसाजी ने उनके मार्ग से थोड़ी दूर जाकर ये पंक्तियाँ जोर-जोर से पढनी शुरू कर दी—

आफताब अंधेर पर, अगनी पर ज्यूं नीर।
दुरसा कवि का दुक्ख पर, है बहराम वजीर॥

इस पर बैरामखां ने हाथ के इशारे से दुरसाजी को निकट बुलाया तो उन्होंने तीन दोहे कहे—

तूं बन्दा अल्लाह का, मैं बन्दा तेराह।
तेरा है मालिक खुदा, तू मालिक मेराह॥
पीर पराई मेटना, एह पीर का काम।
मेरी पीड़ा मेट दे, बड़ा पीर बहराम॥

विभीषण कूं वारिधितट, भेंटे वो एक राम।
अब मिलिया अजमेर में, दुरसा कूं बैराम॥

बैरामखां ने इन्हें अपने डेरे में बुलाकर एक लाख रुपया पुरस्कार में दिया। यहीं दुरसाजी ने बैरामखा से विनती की कि वे उसे अकबर से मिला दें। बैरामखा ने उन्हें मिलाने का वचन दिया। दुरसाजी अकबर से मिले तो अकबर ने उन्हें पूछा—तुम कौन हो, तो दुरसाजी ने उन्हें एक छन्द सुनाया जिसमें दुरसा ने अकबर से प्रश्न किया था कि तुम कौन हो! लक्ष्मण, अर्जुन, राम और कृष्ण इन चारों में तुम कौन? अकबर दुरसाजी से बहुत प्रभावित हुए और उन्हे अपने दरबार में रख लिया।

दुरसाजी को अपनी कविता के बल पर कई मान-सम्मान और जागीरें मिली। कहा जाता है कि दुरसाजी को नौ 'कोड पसाव' मिले, जिनमे से तीन अकबर ने दिए थे। इनके अतिरिक्त धूंदला, पाचेटिया, नातल कुडी, हीगोला (समस्त मारवाड) पेशुआ, भाकर, भूंड, लूंणिया, दागला (समस्त सिरोही) रायपुरिया, दूठाडिया और कागडी (समस्त मेवाड) नामक गांव इन्हें प्राप्त हुए। इनके अतिरिक्त अनेक 'लाख पसाव' और अन्य पुरस्कार प्राप्त हुए।

दुरसाजी का स्वर्गवास 1651 ई.(संवत् 1708) में हुआ।

दुरसाजी ने अनेक डिंगल छदो में रचनाएँ की है जिनसे छद शास्त्र सम्बन्धी उनकी बहुज्ञता का आभास होता है। दुरसाजी की रचनाओ मे—'विरुद छिहत्तरी', 'राव सुरताण रा झूलना', 'झूलणा राय अमरसिंघ गज सिघोत रा', 'राव सुरताण रा कवित्त', 'झूलणा रावल मेघा रा', 'कुमार अज्जाजी नी भूचर मोरीनी गजगत' 'राजा मानसिंह रा झूलणा', 'दूहा सोलंकी वीरमदे रा', 'किरतार बावनी', 'माताजी रा छंद' आदि प्रमुख है।

'विरुद्ध छिहत्तरी' महाराणा प्रताप की प्रशसा में कहे गए छिहत्तर सोरठो का सकलन है। झूलणा एक छंद है जो विभिन्न प्रमुख वीर पुरुषो के चारित्रिक गुणों व अन्य बातो को लेकर लिखे गए है। ऐसे ही कवित्त का प्रयोग किया है, जो कि एक मुक्तक छद है जिसके 'धनाक्षरि', 'मनहर' आदि नौ भेद है। 'गजगत' भी छदो की एक प्रकार है। इसमे गुजरात के जामसत्ता के पुत्र 'अज्जा' की वीरता का बखान किया गया है। दूहा अपभ्रंश काल का प्राचीन छंद है इसमे अनेक नाम व भेद कहे गए है जैसे—सोरठो, खोडो, चोटियाळो, तूंवेरी, साकळियो, बड़ो, डोढो आदि। 'दूहा सोलंकी वीरमदे रा' मे वीरमदे सोलकी ने शाही सेनाओ तथा महाराणा प्रताप और अमरसिंह के बीच हुए युद्धो मे बड़ी वीरता का प्रदर्शन किया था इसी को दुरसाजी ने अपने दूहो मे वर्णित किया है। 'किरतार बावनी' लोक काव्य है। इसका विषय 'आम आदमी' है। 'माताजी रा छंद' चारण देवी 'आवड़' की प्रशस्ति मे रची कृति है।

उपरोक्त प्रमुख रचनाओं के प्रतिरिक्त कई फुटकर रचनाएँ भी सामने आई हैं जैसे–कवित्त देवीदास जैतावत रा, कुंडळिया देवीदास जैतावत रा, नीसाणी हाथीसिंह गोपालदासोत री, नीसाणी राव सुरताण री आदि।

दुरसा द्वारा रचित गीतों मे अनेक प्रसिद्ध गीत-प्रकारों का प्रयोग हुआ है जिनमें साणोर, नीसांणी, पंखाळो, अरटियो, पालवणी, आसड़ो, सावभड़ो, वेलियो आदि। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कलकत्ता में एक चारण कवि के मुख से इन गीतों का पाठ सुनकर आत्म विभोर होकर यह कहा था कि "ये गीत अपनी सरलता, सरसता और भावुकता में संत साहित्य से भी उत्कृष्ट हैं। ये गीत संसार की किसी भी भाषा के श्रेष्ठतम साहित्य से टक्कर ले सकते हैं।"

दुरसाजी ने राजस्थानी की डिंगल शैली में अपनी रचनाएँ की। राजस्थानी की 'मारवाड़ी' उपभाषा को कवियों ने डिंगल काव्य के सशक्त वाहन के रूप में विकसित किया था। भाषा की विशिष्ट शैली के अतिरिक्त दुरसाजी की काव्य भाषा में संस्कृत, फारसी, अरबी, तुर्की आदि के तत्सम् व तद्भव शब्दों तथा शुद्ध देशी शब्दों की भी भरमार है। कहावतें एवं मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। दुरसाजी के काव्य में संबोधनात्मक विरुद प्रधान शैली, सामान्य प्रशस्तिपरक शैली, मरसिया (शोक काव्य) शैली, रूपकात्मक शैली, परिगणनात्मक शैली, उद्‌बोधनात्मक शैली आदि शैलीगत प्रयोग हुए है। काव्य में कवि की अभिव्यक्ति ही प्रमुख होती है। दुरसाजी की प्रारंभीय अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ रूप संबोधनात्मक शैली में है। राजदरबारी और युद्धों में समान रूप से अपनी ओजस्वी वाणी में वीर कृत्यों का अभिनंदन करने वाले और क्षत्रिय धर्म की प्रतिष्ठा के लिए मर मिटने की प्रेरणा देने वाले उनके विरददायक स्वरूप का प्रकाश जहाँ-तहाँ प्रतिबिम्बित हुआ है, और वे ही स्थल डिंगल के चारणी साहित्य की आत्मा बन गए हैं। दुरसा के काव्य सौन्दर्य में उनके शब्द चित्रों की विशालता, व्यापकता और उदारता अत्यधिक प्रभावोत्पादक है। दुरसा की कल्पनाएँ बड़ी भव्य है उनका शब्द संयोजन भी बड़ा मार्मिक है। 'भिखारी' का चित्रण द्रष्टव्य है—

> एक टूक कारणे, भमे घर-घर भिख्यारी,
> दीन वचन दाखवे, भणे मुहि लब्बर भारी,
> अणदेमे अणदत्त, अडे दे उत्तर आडा,
> तो ही रग रग तेथि, यागि अन मेले माडां,
> पिंड रो मान मूके........घर सूधि भिक्षा धरे।

दुरसा को आलोचकों ने एक राष्ट्र कवि के रूप में उभारने का प्रयास किया है। उनका आधार 'विरुद्ध छिहत्तरी' नामक रचना है। कुछ शोध विद्वानों ने 'विरुद्ध छिहत्तरी' की प्रमाणिकता पर प्रश्न लगाया है क्योंकि कुछ प्रसंग ऐसे आते है जो कुछ भिन्न स्थिति को जताते हैं परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि दुरसाजी मध्यकाल के अति विशिष्ट कवियों में से थे।

ईसरदास—ईसरदास मध्यकालीन कवियों में अपना प्रमुख स्थान रखते है। इनका जन्म जोधपुर राज्य के भद्रेस गाँव मे सन् 1538 (सं. 1595) मे हुआ था इनके जन्म के सम्बन्ध मे एक दोहा बहु-प्रचलित है—

पनरासो चिच्चाणवे, उपन्या ईसरदास ।
चारण वरण चकार में, उण दिन हुयो उजास ॥

इनके पिता का नाम सूजाजी और माता का नाम अमर बाई था। ईसरदास पीताम्बर भट्ट को अपना गुरु मानते थे। इन्होंने आरम्भिक 21–22 वर्ष भद्रेस में ही अपने चाचा आसोजी (प्रसिद्ध चारण कवि) के सान्निध्य मे बिताए फिर भद्रेस छोड़कर जाम नगर चले गए। यहाँ के शासक रावळजाम की सभा में उन्होने एक डिंगल गीत पढ़ा था। इस गीत को सुनकर रावळजाम और उसके राजपंडित पीताम्बर भट्ट बहुत प्रभावित हुए। पीताम्बर भट्ट ने ही उनको नर-काव्य न रच कर भगवद्-काव्य रचने की प्रेरणा दी थी। उनसे ही ईसरदास ने भागवत-पुराण और धर्म-शास्त्रीय ग्रंथो का अध्ययन किया। 'गुण-वैराट' और एक हरजस मे ईसरदास ने पीताम्बर भट्ट को गुरु के रूप मे श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

ईसरदास ने दो शादियाँ की थी। इनकी प्रथम पत्नी का नाम देवलबाई था जिनसे दो पुत्र हुए–जगोजी और चूंडोजी। शीघ्र ही इनकी इस पत्नी का देहान्त हो गया, और उनमे विरक्ति सी आ गई, परन्तु संवत् 1617 मे जाम नगर के रावळ जाम ने अबूसरा शाखा के चारण पेथाभाई गढवी की पुत्री राजबाई से उनका विवाह करवा दिया और संचाणो, रंगपुर, वीरदारकर गूंढो आदि कई गाँव जागीर मे दिए। रावळ द्वारा उन्हे 'कोड़पसाव' देने का भी उल्लेख मिलता है।

लगभग 65 वर्ष की उम्र तक गुजरात-काठियावाड रहने के पश्चात् ईसरदासने अपनी जन्मभूमि को याद किया और वे काठियावाड से भद्रेस आ गए। कुछ समय यहां रहकर उन्होने लूणी नदी के तट पर एक कुटिया बनाई और मृत्युपर्यन्त यही रहे। लगभग 80 साल की आयु मे सन् 1618 (स 1675) मे इसी कुटिया मे अपना शरीर छोड़ा।

ईसरदास के समय मे केन्द्रीय शक्ति के रूप मे शेरशाह सूरी और मुगल वंश के हुमायूं, अकबर और जहांगीर दिल्ली के सम्राट हुए है। ईसरदास की अधिकांश और प्रमुख रचनाएँ राजस्थानी मे है। ईसरदास की रचनाओं का उल्लेख करने से पूर्व यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि इन ईसरदास के अतिरिक्त इस नाम के 13 चारणों का उल्लेख मिलता है। जिनमे से कई कवि भी हुए है। श्री सौभाग्यसिंह शेखावत ने इनका नामोल्लेख अपने एक लेख मे किया है। अत. इनकी रचनाओं का उल्लेख बड़ी सावधानी से करना आवश्यक है। ईसरदास की अनेक हस्त प्रतियाँ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जयपुर, सिटी पैलेस पोथी खाना (खास मोहर संग्रह) जयपुर, सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय, कलकत्ता आदि मे संग्रहित हैं।

ईसरदास चमत्कारी पुरुष थे। इनके भक्ति-भाव के चमत्कार की अनेकों दंत कथाएँ प्रचलित है। लोगों का मानना था कि उन्हे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त थी। इसलिए लोग उन्हे 'ईसरा सो परमेसरा' कह पूजते। ईसरदास की भक्ति-भाव की रचनाओ मे 'हरिरस' बहुत प्रसिद्ध और प्रमुख है। इसके अलावा 'गरुड़ पुराण', 'गुण भागवत-हस', और 'गुण आगम' भी उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त 'निन्दा स्तुति', 'देवियाण', 'गुण वैराट', 'गुण रास कीला,' 'सभापर्व' जैसी रचनाएँ भी उन्होंने लिखी। 'हाला-झाला रा कु डळिया' भी बहुत लोकप्रिय हुयी है। 'हरिरस' ईश भक्ति का काव्य है और 'कु डळिया' वीर रस का।

हाला-झाला साले-बहनोई थे। इन्ही पर 'हाला-झाला रा कुण्डळिया' रचा गया है। हरिरस के विषय मे केशवदास गाडण की यह उक्ति बहुत लोकप्रिय है—

जग प्राजळतो जाण, अघ दावानळ ऊपरां।
रचियो कोहड राण, अमद हरी रस सूरवत ॥

राजस्थान और गुजरात मे आज भी कई लोग इसका नित्य-पाठ करते है। इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए है। 'गुण रास कीला' में श्री कृष्ण की विभिन्न रास क्रीड़ाओं का वर्णन किया गया है। इनमे कालिय-दमन, पूतना-वध, कंस-वध, धेनु-चारण, गोवर्द्धन-धारण, द्रौपदी का चीर बढाना, पाडवों की सहायता, जरासंध वध, शिशुपाल वध, रुकमणी-हरण आदि प्रसंगो का उल्लेख वर्णन है। 'गरुड़ प्रांणि' (गरुड़ पुराण) में प्रसिद्ध गरुड़ पुराण का आधार लिया गया है। 'देवियाण' मे 85 छंद 'अडल' और 'भुजंगी' तथा अन्त मे तीन छप्पय है। इसमें महाशक्ति देवी की शक्तिमत्ता और महिमा गाई गई है। 'गुण आगम' भविष्य मे होने वाले भगवान के कल्कि अवतार का वर्णन है। 'भगवंत हंस' मे भगवान और हंस अर्थात् आत्मा दोनो को एक मानकर मन-मन्दिर मे ही ईश्वर को प्राप्त करने का उल्लेख है। 'गुण वैराट' मे गुरु पीताम्बर का उल्लेख किया और श्रीमद् भागवत का आधार उल्लेख इसके आरम्भ मे किया है। हस, मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, राम, कृष्ण, बलवीर आदि का तथा भविष्य में होने वाले कल्कि अवतार का उल्लेख वर्णन किया गया है। 'निन्दा-स्तुति' में परब्रह्म और उसके अवतारो की निन्दा में स्तुति की गई है। यह निन्दा अनेक प्रश्न, *व्यंग्य, उपालम्भ, निष्कर्ष, स्पष्टोक्ति के रूप मे है और कवि की भगवद्-भक्ति,* परमेश्वर पर निस्सीम विश्वास, आत्म निवेदन, उसके गम्भीर शास्त्र-ज्ञान और चिन्तन की द्योतक है। रचना मे परब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप विषयक अनेकशः प्रसंगों और कथाओ का उल्लेख है।

ईसरदास की भाषा राजस्थानी है। जिसके कई स्तर लक्षित होते है। डिंगल गीतों और 'हाला-झाला रा.कु डळिया' की भाषा साहित्यिक है। हरिरस,

गरुड़ पुराण आदि की भाषा सरल बोलचाल की राजस्थानी है। जिसमें कहीं-कहीं ब्रज और खड़ी बोली का पुट भी है। जहाँ तक शैली का प्रश्न है, ईसरदास ने निषेधात्मक, विधानात्मक, व्याजस्तुतिपरक, प्रश्नात्मक, स्तुतिपरक, प्रशस्तिपरक, आत्मनिवेदनापरक, सम्बोधनात्मक और वर्णनात्मक आदि प्रकारों का प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते है कि ईसरदास की रचनाएँ मुख्यतः दो प्रकार की—वीररसात्मक और भक्तिपरक है। 'हालां-झाला रा कुंडलिया' की कोटि की रचनाएँ राजस्थानी मे बहुत ही कम मिलती हैं और 'हरिरस' जैसा भक्ति काव्य भी बहुत कम देखने को मिलेगा। ईसरदास इसी वजह से अपने युग पर अपनी छाप छोड मध्यकाल के प्रमुख कवि के रूप में सामने आते है। वह उत्साह भाव और प्रखर जीवन-मूल्यों का आशावादी कवि है। निर्भीकता, स्पष्टता और संवेदनशीलता उनकी लेखनी के गुण है। वे समन्वय के प्रस्तोता, पूर्ण के उपासक और 'शिवम्' के गायक है।

पृथ्वीराज राठौड़ (प्रिथीराज)—पृथ्वीराज राठौड़ अकबर के समकालीन थे। पृथ्वीराज का युग वह युग है जिसमें बीकानेर के राव कल्याणमल और जयपुर के भारमल ने अपनी लड़कियाँ मुगल सम्राट अकबर को देकर बादशाही मेहरबानी हासिल की थी, और यह वह युग है जिसमे राजपूत दहेज के कारण आर्थिक स्थिति से डरकर अपनी कन्याओं का वध कर देते थे और सती प्रथा के कारण साधारण राजपूतो के परिवार छिन्न-भिन्न होते जा रहे थे और सती न होने पर परिवारों मे विधवाओं को कारुणिक जीवन बिताना पड़ता था। समूची क्षत्रिय जाति एक झूठे दम्भ और सामाजिक अहंकार में जी रही थी। पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, मान-सम्मान, ऊँच-नीच, कुलगत वैमनस्य और प्रतिशोध उनकी संगठित शक्ति मे बाधक बन गए थे। इसी बेपरवाह शान मे अंधे होकर वे अपनी बेटियो को विधवा भी बनाने लगे थे। पिता-पुत्रो-भाइयो की हत्या करने और कुटिल नीति में निम्नतम स्तर पर भी उतरने मे वे हिचकिचाते नही थे। यह वह युग था जिसमें राजपूत परिवारों ने मुगलों का संरक्षण पाकर अपने प्रतिशोध की ज्वाला को शान्त करने के लिए इतिहास को अपमानित करने वाले प्रयास किये थे। और यह वह युग भी था जिसमें स्त्रियो की कोई सामाजिक स्थिति नही थी। उनका घर ही उनका संसार था। उनमे शिक्षा का नितान्त अभाव था और परदे का रिवाज व्यापक था। सामाजिक असुरक्षा, व्यावसायिक शिक्षा का अभाव और पारस्परिक न्यायविधि ने उन्हे पुरुष के हाथ की कठपुतली बना दिया था और वह सिर्फ भोग्या के रूप में जी रही थी। यह वह युग था जिसमे बलात् धर्म परिवर्तन होता था और ऐसे बने मुसलमान क्रमशः बढते जा रहे थे। और वह युग

रामभक्ति और कृष्ण भक्ति के अभ्युदय का संक्रमण काल था। बीकानेर में जसनाथी और विष्णोई सम्प्रदायों के प्रभाव का युग था। तत्कालीन साहित्य में इसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था। ऐसी युगीन स्थितियों मे पृथ्वीराज का जन्म हुआ था। वे बीकानेर के राजवश से सम्बन्धित थे। इनके पिता बीकानेर राजवंश के संस्थापक राव बीका से चौथी पीढ़ी में अकवर के समकालीन राव कल्याणमल थे और माता सोनगरा वंश की रानी भक्तमती थी। पृथ्वीराज का जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा संवत् 1606 को हुआ था। जन श्रुतियों के अनुसार पृथ्वीराज के तीन विवाह हुए। इनकी पहली पत्नी जैसलमेर क रावल हरराज की पुत्री लालादे बताई जाती है। कहा जाता है कि, जब लालादे का स्वर्गवास हो गया तो रावल हरराज की ही अन्य कन्या 'चंपादे' से पृथ्वीराज का विवाह किया गया। एक और जनश्रुति के अनुसार पृथ्वीराज का विवाह महाराणा उदयसिह की पुत्री से भी हुआ था। कुछ विद्वान उसे महाराणा की पुत्री न मानकर उनके पुत्र शक्तिसिह की पुत्री मानते है। इसका नाम 'किरणादे' अथवा 'किरणवती' बताया जाता है। किरणादे के विषय मे एक बात आती है कि एक बार अकवर ने नवरोज के जश्न मे लगे मीना बाजार मे पृथ्वीराज की पत्नी किरणादे को देखा तो वे उसके रूप-लावण्य पर मोहित हो गए। उन्होंने उसके साथ अभद्र-व्यवहार करने की चेष्टा की तो क्षत्राणी कटार निकाल कर उसकी छाती पर चढ़ बैठी और अकबर को क्षमा-याचना करनी पड़ी।

पृथ्वीराज के दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। पुत्रो का नाम सुन्दर सिह और गोकुलदास तथा पुत्रियो का नाम 'पुहपावती' और 'रखमावती' बताया जाता है।

जन-श्रुतियो के अनुसार पृथ्वीराज अकवर के 'नवरत्नो' में से एक थे। यद्यपि ऐसा मानने का कोई आधार नही है। एक लोकोक्ति में यह बात इस प्रकार कही गई है—

> पीथल सों मजलिस गई, तानसेन सों राग।
> हसबो रसबो बोलबो, गयो बीरबल साथ॥

अकबर और महाराणा प्रताप का प्रसंग बहुचर्चित है। जब अकबर ने तथाकथित आत्म समर्पण का पत्र पृथ्वीराज को पढ़कर सुनाया तो उन्होंने कहा कि यह पत्र जाली है, महाराणा प्रताप ऐसा नही कर सकते। यदि आपकी आज्ञा हो तो पत्र लिख पूछूं। कहा जाता है कि पृथ्वीराज ने उन्हें निम्नलिखित दूहे लिख कर भेजे—

> 'पातल' जो 'पतसाह', बोलै मुख हूंता वयण।
> मिहिर पिछम दिस माह, ऊगे कासप राव उत॥

पटकूं मूंछा पांण, कै पटकूं निज तन करद।
दीजै लिख दीवाण, इण दो महली बात इक॥

कहते हैं कि महाराणा प्रताप ने उक्त पत्र के पहुँचने पर निम्नलिखित दोहे उत्तर में लिखकर भेजे—

तुरक कहासी मुख पतै, इणतन सूं इकलंग।
ऊगै ज्यांही ऊगसी, प्राची बीच पतंग॥
खुसी हूंत पीथल कमध, पटको मूंछा पाण।
पछटण है जेतै पतो, कलमा सिर केवाण॥
सांग मूंड सहसी सको, समजस जहर सवाद।
भड़ पीथल जीतो भला, वैण तुरक सूं वाद॥

अकबर को जब यह पत्र पढाया तो उसे स्वभावतः बड़ी निराशा हुई। ऐसे ही एक प्रसंग वेलि के सम्बन्ध में है। सायां—झूला-कृत 'रुकमणी' हरण' को सुनकर उन्होंने पृथ्वीराज को कहा कि 'सांई बाबा' की 'हरणी' तुम्हारी 'वेल' को चर गई।

कवि के रूप में अकबर तथा पृथ्वीराज के सम्बन्ध के अलावा 'अकबर नामा' और 'मुंहता नैणसी री ख्यात' से यह भी पता चलता है कि उन्होंने अकबर की तरफ से काबुल और गागरोण के युद्धों में भी भाग लिया था।

पृथ्वीराज एक कुलीन क्षत्रिय थे परन्तु उनके काव्य की मुख्य प्रेरक शक्ति उनकी भक्ति भावना थी। 'करणीमाता' तथा 'लक्ष्मीनाथ' उनके इष्टदेव थे। परन्तु कृष्ण के प्रति उनका समर्पण सर्वोपरि था। उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'क्रिसन रुकमणी री वेलि' और 'वसदेरावउत रा दूहा' इस तथ्य की साक्षी हैं।

नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' नामक ग्रन्थ में पृथ्वीराज की चर्चा कविराज और भक्तराज बताकर की है। अपने समकालीन कवियों में पृथ्वीराज काफी चर्चित रहे। वे वीर, भक्त, और सशक्त कवि के अतिरिक्त अनेकानेक विषयों के भी ज्ञाता थे। ज्योतिष, वैद्यक, संगीत, छन्द शास्त्र, व्याकरण, काव्य शास्त्र, पुराण और लोक-व्यवहार की इनकी जानकारी 'वेलि' में जगह-जगह देखी जा सकती है।

पृथ्वीराज की चहुँ दिस ख्याति 'क्रिसन रुकमणी री वेलि' से है। इसके अतिरिक्त उन्होंने, 'वसदेरावउत रा दूहा', 'दसरथदेवउत रा दूहा', 'भागीरथी (जाह्नवी) रा दूहा', 'बलभदेवउत (वीठळ) रा दूहा', 'देवी स्तुति', भक्ति तथा आध्यात्म की अन्य रचनायें, 'यशगीत', 'प्रताप प्रशस्ति', प्रकीर्णक साहित्य, पिंगल/ब्रजभाषा की रचनाएं लिखी।

'वेलि' कृष्ण और रुकमणी के विवाह से जुडी अनेकानेक घटनाओं पर लिखी अजोड़ काव्य कृति है। 'वसदेरावउत रा दूहा' में कृष्ण के नाना प्रसंगों का

वर्णन किया गया है। 'दशरथदेवउत रा दूहा' का दूसरा नाम 'रामचन्द्रजी रा दूहा' भी मिलता है। इसमें दशरथ पुत्र राम के महान् कार्यों की स्तुति की गई है। 'भागीरथी रा दूहा' के दूसरे नाम 'गंगाजी रा दूहा' और 'जाह्नवी रा दूहा' भी है। इसमे भागीरथी को भगवान के रूप में देखा गया है। इसमें उच्चकोटि की दार्शनिकता परिलक्षित हुई है। 'वल्लभदेवउत रा दूहा' में आचार्य वल्लभ के पुत्र विट्ठलनाथ की वन्दना है। ये पृथ्वीराज के दीक्षा गुरु थे। 'देवीस्तुति' में भगवती करणी की स्तुति है। 'भक्ति एव आध्यात्म की रचनाएँ' मे डिंगल गीत, छप्पय, आरती, मोहलो तथा दूहे है। 'यशगीत' साख की कविता के पारम्परिक नाम से जाने गए डिंगलगीत है। प्रताप प्रशस्ति मे प्रताप सम्बन्धी दूहे व गीत है। 'प्रकीर्णक' फुटकर राजस्थानी रचनाएँ है जिनमे लालादे तथा चम्पादे विषयक दूहे, कूट दूहे, सज्जन-भाव के दोहे तथा कुण्डलियाँ आदि है।

समकालीन कवियो मे जिस स्तर की शिक्षा का प्रचलन था उसकी तुलना में पृथ्वीराज को अधिक उच्चस्तरीय शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य मिला था। उनके काव्य मे प्रयुक्त शब्द रूप यह प्रकट करते है कि उन्हे संस्कृत, प्राकृत तथा ब्रज भाषा की समुचित शिक्षा मिली थी। वेलि में एक छन्द तो पूरा का पूरा संस्कृत मे ही दिया है। पृथ्वीराज की भाषा अन्य कवियो की तुलना मे अधिक संस्कृत गर्भित थी। पिंगल अथवा ब्रजभाषा की रचनाएँ नगण्य है परन्तु जो कुछ लिखा है वह सिद्धहस्त कोटि का है। डिंगल की अपनी परम्परा पृथ्वीराज के रक्त मे समाई है। डिंगल की शब्द योजना उनके पाडित्य की साक्षी है। संस्कृत शब्दो का डिंगलीकरण भी बडी कारीगरी से किया हुआ वेलि मे स्थान-स्थान पर मिलता है। पृथ्वीराज ने शृंगार, वीर, शांत, करुण आदि रसों के वर्णनो मे अपनी क्षमता को भलीभाति प्रकट किया है। भाषा सौष्ठव मे लोक प्रचलित मुहावरो का प्रयोग अपनी विशेषता रखता है। पृथ्वीराज की भाषा मे इनका सुन्दर प्रयोग हुआ है। मुहावरो की छटा समचे काव्य में व्याप्त है जिससे प्रसाद गुण की वृद्धि हुई है, जो पाठक के लिए काव्य को सहज बोधगम्य बना देता है। कवि का भाव सौष्ठव, रुकमणी की बाल्यावस्था, वय संधि, रुकमणी की आतुरता, नख-शिख वर्णन, पालकी में बैठी रुकमणी, मुर्च्छाग्रस्त सैनिक, मिलन रात्रि मे पूर्व संध्या में रुकमणी का मनोभाव, रत्यन्त मे रुकमणी, ऋतु वर्णन आदि मे देखा जा सकता है, एक श्रेष्ठ कवि, आदर्श भक्त और क्षत्रियोचित वीरत्व के धनी के रूप मे पृथ्वीराज का व्यक्तित्व डिंगल साहित्य में सर्वदा अभिनन्दनीय रहेगा। 'वेलि' ने उन्हें मध्यकाल के महान् कवियो मे स्थान दिलाया है।

कृपाराम खिड़िया (1743–1833)

मध्यकाल के कवियों में कृपाराम खिड़िया का नाम लोक में बहु प्रशंसित है। ये सीकर के राव राजा देवीसिंह के मरजीदान कवि थे। मूल रूप से भूतपूर्व रियासत के 'खराडी' गाँव के रहने वाले थे परन्तु बड़े होने पर वे राव राजा लक्ष्मणसिंह के पास आ गए थे और अन्त समय तक यहीं रहे। इनको एक गाँव मिला जो वर्तमान मे लक्ष्मणगढ (सीकर) तहसील मे है। यह गाँव उनके नाम से 'कृपाराम की ढाणी' कहलाता है।

कृपाराम ने सरल सुबोध शब्दो मे नीति सम्बन्धी पद्य लिखे है जोकि 'राजिया रा दूहा' नाम से लोकप्रिय है। इनकी संख्या 165 के आस-पास है। ये दूहे (सोरठे) 'राजिया' को सम्बोधित है। राजिया कवि का नौकर था। उसके कोई बाल-बच्चे नहीं हुए थे, इस वजह से वह बड़ा दुःखी रहता। उसे वंश खत्म होने की चिन्ता सताती। परन्तु कवि ने उसे इन दूहो से अमर कर दिया और ये दूहे 'राजिया रा दूहा' कहलाते है। राजिया का नाम ही लोक मे प्रचलित है। कवि का नाम तो रचयिता के रूप मे है। परन्तु है राजिया का नाम। 'राजिया' पहले और कवि बाद मे आता है। लोक मे ये दूहे 'राजिया' के नाम से ही जाने जाते है। कुछ दूहे यहाँ द्रष्टव्य है—

रोटी चरखो राम, इतरो मुतलब आप रो।
की डोकरिया काम, राज-कथा सूं राजिया॥
मूसा नै मंजार, हितकर बैठा हेकठा।
सौ जाणै ससार, रस नंह रहसी राजिया॥
गण-ग्रौगण जिणमांय, सुणै न कोई सांभळै।
मच्छ गळागळ माय, रहणो मुसकल राजिया॥
कारज सरै, न कोय, बल प्राक्रम हीमत विना।
हलकार्‌या की होय, रग्या स्याळा राजिया॥
लावा तीतर लार, हर कोई हाका करै।
सिंघा तणो सिकार, रमणो मुसकल राजिया॥
मुख ऊपर मीठास, घट माही खोटा घड़ै।
इसड़ा सूं इखळास, राखीजे नंह राजिया॥
काळी घणी कुरूप, कसतूरी काटा तुलै।
साकर वडी सरूप, रोड़ा तुलै राजिया॥

'राजिया रा दूहा' सरल भाषा मे होने के कारण लोक में बहुत लोकप्रिय हुए है। नीति सम्वन्धी बातचीत में इनके उद्धरण देते लोग आज भी देखे जा सकते है।

ओपाजी (1752–1843 के आस-पास)—मध्यकालीन कवियो मे ओपाजी के स्वर चारण कविता में कुछ भिन्नता रखते है। इन्होंने अपनी कविता को

जनमानस से जोड कर अपना ऊँचा स्थान चारण कवियों मे बनाया है। इनके पिता का नाम चारण बख्ताजी था। इनका जन्म सिरोही के पेसवा ग्राम मे हुआ था। यद्यपि इनका कोई ग्रंथ रचा हुआ नही मिलता परन्तु फिर भी ये अपने डिंगल गीतों के कारण मध्यकाल मे लोकप्रिय रहे है। राजस्थानी की डिंगल शैली मे अपनी रचनाएँ कर इन्होने ख्याति अर्जित की। अपने गीतों मे ओपाजी ने मुगल साम्राज्य के पतन और मराठों के उत्थान को बनाया है। ओपाजी ने ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हुए मानव आचरण सम्बन्धी बातें भी अपनी कविता में ली है। स्वयं को संबोधित कर लिखा यह पद्य द्रष्टव्य है—

मन जाणै चढू हाथिया माथै, खुर रगडतां जनम हुवै।
नर की चीती बात हुवै नह, हर की चीती बात हुवै॥
चित में जाणै हुकुम चलाऊ, हुकुम तणै बस नार न होय।
सांचा लेख लिख्या उण साई, काचा करण न दीसै कोय॥
धापै मन बैठां धोळाहर, तापै सूखा ठूंठ तठै।
आदू रीत असी है ओपा, कुटी लिखी सो महल कठै॥

ओपाजी की भाषा मे आकर्षण है, भावों मे गाम्भीर्य है। सरल भाषा की वजह से इनकी रचना सम्प्रेषणीयता बढ़ा सकी है।

ओपाजी पौराणिक एवं धार्मिक परम्परा के चारण कविता के अन्तिम कवि है।



12. अलखिया लालगिरि जी
13. आई पंथ जीजी देवी (आई जी)

इन सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय क्रमशः निम्न प्रकार है—

नाथ सम्प्रदाय—नाथ सम्प्रदाय समस्त राजस्थान मे प्रचलित था। इस सम्प्रदाय के संत शिव उपासक है और शिव ही आदिनाथ माने जाते है। इस सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रचार 11 वीं शताब्दी मे गोरखनाथ ने किया। नाथ सम्प्रदाय हठ योग पर ज्यादा बल देते है। नाथ सम्प्रदाय का प्रमुख उद्देश्य जीवन मुक्ति हेतु जीते जी शरीर से स्वतन्त्र होना है। नाथ संप्रदाय के योगियों के 12 पंथ हैं सत्यनाथी, रामनाथी, पाकलनाथी, गगानाथी, नातेश्वरी, पावनाथी, धर्मनाथी, माननाथी, कपिलनाथी, आय पंथी, वैराग्य पथी। इनके अलावा और भी कई पंथ नाथों मे पाए जाते है।

नाथ सम्प्रदाय के कवियो ने खडी बोली मे अपने पद्यों की रचना की है। परन्तु नाथो का राजस्थानी की तरफ अधिक बल रहा है। इनकी कविताओं मे साधना का वर्णन है। नाथ कवियों में पृथ्वीनाथ (1450 मे 1550ई.) ने 'निरंजन निरवाण' और 'भक्ति बैंकुण्ठ' नामक ग्रथो की रचना की। इनकी कविता नाथ सम्प्रदाय के विभिन्न पक्षों को उजागर करती है। भाषा खडी बोली है परन्तु राजस्थानी का मिश्रण अधिक है। नाथ सम्प्रदाय के दूसरे उल्लेखनीय कवि जोधपुर के महाराजा मानसिंह (1742 मे 1843ई.) हुए है। इन्होंने कई तरह की रचनाएँ की जो नाथ सम्प्रदाय मे बहुत महत्त्व रखती है। मानसिंह के लिखे हुए संगीत बद्ध पद्य भी बहुत लोकप्रिय हुए है। नाथ भक्त, नाथवाद और नाथ दर्शन पर इनकी कोई 37 रचनाएँ सामने आई है। 'नाथ चरित्र', 'जलंधर चरित्र', 'नाथ पुराण', 'जलंधर ज्ञान सागर', 'अनुभव मंजरी' 'सरूपण रा दूहा', 'नेग मंजरी' आदि इनके ग्रंथ काफी लोकप्रिय हुए है। 'अनुभव मंजरी' और 'सरूपण रा दूहा' राजस्थानी मे लिखे हुए है। मानसिंह ने वचनिका शैली पर 'रतना हमीर री बारता' नामक एक वचनिका ग्रंथ भी लिखा है। यह एक प्रेम कथा है।

नाथ सम्प्रदाय में बखनाथ भी एक प्रमुख कवि हुए है, इनके द्वारा रचित 'अनुभव-प्रकास' नाथ परम्परा मे बहुत अच्छी कृति मानी जाती है। इस कृति की रचना 1851ई. में हुई है। बखनाथ के बाद नवननाथ, उत्तमनाथ, विवेकनाथ जैसे कवि हुए जिन्होने नाथ परम्परा की रचनाएँ की।

रसिक सम्प्रदाय—रसिक सम्प्रदाय की गद्दी रैंवासा (सीकर) मे है। रामानंद (1299 से 1410ई.) इस प्रगतिशील विचारधारा के प्रेरक हुए हैं। इनकी विचारधारा उत्तरी भारत मे बहुत लोकप्रिय हुई। रामानन्द ने भक्ति के द्वार बिना किसी जाति-पांति के सबके लिए खोल दिए। ज्ञान और भक्ति पर इन्होंने बल दिया। अनन्तानंद, सुखानन्द, पीपा,. कबीर सरीखे इनके शिष्य हुए जिन्होने आगे चलकर

संत साहित्य

आख्यान काव्य की तरह संत साहित्य राजस्थानी साहित्य के मध्यकाल की एक प्रमुख विशेषता बन सामने आता है। राजस्थानी का जितना समर्थ लोक साहित्य है उतना ही समर्थ संत साहित्य। राजस्थान की धरती पर ऐसे अनेकानेक सत कवि और सत सम्प्रदाय हुए है जिन्होंने यहाँ के लोक मानस को भक्ति-भाव से सराबोर किया है। इस युग मे सगुण एवं निर्गुण-भक्ति दोनो तरह का साहित्य रचा गया। भक्त कवियों ने अपने-अपने तरीके से ईश्वर की आराधना मे अपने पद रचे, गाए। परन्तु इस काल मे रचा गया नाथ सम्प्रदाय की योग साधना का साहित्य संत साहित्य मे अपनी अलग ही पहचान रखता है। नाथ सम्प्रदाय के सतो ने अपने तरीके से आदिनाथ की महिमा गाई और अपने साहित्य की रचना की है। समूचे सत साहित्य मे कलापक्ष की बजाय भावपक्ष प्रधान रहा है। कई सत कवियों ने विचारों की प्रधानता के साथ काव्य चमत्कार और लालित्य भी अपने काव्य में भरा है परन्तु ऐसे सत कवि बहुत कम हुए है। राजस्थानी में संत साहित्य विपुल मात्रा मे रचा गया है। डॉ. हीरालाल महेश्वरी सत साहित्य के अधिकारी विद्वान है जिन्होंने मध्यकाल मे फले-फूले विभिन्न सम्प्रदायों की एक सूची बनाई है जो निम्न प्रकार है—

सम्प्रदाय	प्रवर्तक या प्रचारक
1. नाथ	गोरखनाथ
2. रसिक	अग्रदास जी
रामावत वैरागी	अनन्तनंदी जी
3. विश्णोई	जाभोजी
4. जसनाथी	जसनाथ जी
5. निरंजनी	हरिदास जी
6. निम्बार्क	परसुराम देव जी
7 दादूपथ	दादूदयाल जी
8. लालदासी (लाल पंथ)	लालदास जी
9. चरणदासी	चरण दास जी
10. गुदड पंथी	सत दास जी
11. (i) राम स्नेही	राम चरण जी
(ii) राम स्नेही	दरियाव जी
(iii) राम स्नेही	राम दास जी
(iv) राम स्नेही	हरिराम दास जी

12. अलखिया लालगिरि जी
13. आई पंथ जीजी देवी (आई जी)

इन सम्प्रदायो का संक्षिप्त परिचय क्रमशः निम्न प्रकार है—

नाथ सम्प्रदाय—नाथ सम्प्रदाय समस्त राजस्थान में प्रचलित था। इस सम्प्रदाय के संत शिव उपासक है और शिव ही आदिनाथ माने जाते है। इस सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रचार 11 वी शताब्दी मे गोरखनाथ ने किया। नाथ सम्प्रदाय हठ योग पर ज्यादा बल देते है। नाथ सम्प्रदाय का प्रमुख उद्देश्य जीवन मुक्ति हेतु जीते जी शरीर मे स्वतन्त्र होना है। नाथ संप्रदाय के योगियों के 12 पंथ है · सत्यनाथी, रामनाथी, पाकलनाथी, गगानाथी, नातेश्वरी, पावनाथी, धर्मनाथी, माननाथी, कपिलनाथी, आय पंथी, वैराग्य पथी। इनके अलावा और भी कई पथ नाथो मे पाए जाते है।

नाथ सम्प्रदाय के कवियो ने खडी बोली मे अपने पद्यों की रचना की है। परन्तु नाथो का राजस्थानी की तरफ अधिक बल रहा है। इनकी कविताओ मे साधना का वर्णन है। नाथ कवियो मे पृथ्वीनाथ (1450 मे 1550ई.) ने 'निरजन निरवाण' और 'भक्ति वैकुण्ठ' नामक ग्रथो की रचना की। इनकी कविता नाथ सम्प्रदाय के विभिन्न पक्षों को उजागर करती है। भाषा खडी बोली है परन्तु राजस्थानी का मिश्रण अधिक है। नाथ सम्प्रदाय के दूसरे उल्लेखनीय कवि जोधपुर के महाराजा मानसिंह (1742 से 1843ई.) हुए है। इन्होने कई तरह की रचनाएँ की जो नाथ सम्प्रदाय में बहुत महत्त्व रखती है। मानसिंह के लिखे हुए संगीत बद्ध पद्य भी बहुत लोकप्रिय हुए है। नाथ भक्त, नाथवाद और नाथ दर्शन पर इनकी कोई 37 रचनाएँ सामने आई है। 'नाथ चरित्र', 'जलंधर चरित्र', 'नाथ पुराण', 'जलंधर ज्ञान सागर', 'अनुभव मंजरी' 'सरूपण रा दूहा', 'नेग मंजरी' आदि इनके ग्रंथ काफी लोकप्रिय हुए है। 'अनुभव मजरी' और 'सरूपण रा दूहा' राजस्थानी मे लिखे हुए हे। मानसिंह ने वचनिका शैली पर 'रतना हमीर री वारता' नामक एक वचनिका ग्रंथ भी लिखा है। यह एक प्रेम कथा है।

नाथ सम्प्रदाय मे बख्तानाथ भी एक प्रमुख कवि हुए है, इनके द्वारा रचित 'अनुभव-प्रकास' नाथ परम्परा मे बहुत अच्छी कृति मानी जाती है। इस कृति की रचना 1851ई. मे हुई है। बख्तानाथ के बाद नवलनाथ, उत्तमनाथ, विवेकनाथ जैसे कवि हुए जिन्होने नाथ परम्परा की रचनाएँ की।

रसिक सम्प्रदाय—रसिक सम्प्रदाय की गद्दी रैंवासा (सीकर) में है। रामानद (1299 मे 1410ई.) इस प्रगतिशील विचारधारा के प्रेरक हुए है। इनकी विचारधारा उत्तरी भारत मे बहुत लोकप्रिय हुई। रामानन्द ने भक्ति के द्वार बिना किसी जाति-पाति के सबके लिए खोल दिए। ज्ञान और भक्ति पर इन्होने बल दिया। अनन्तानंद, सुखानन्द, पीपा,. कबीर सरीखे इनके शिष्य हुए जिन्होने आगे चलकर

इस विचारधारा का व्यापक प्रचार किया। अनन्तानंद के शिष्य कृष्णदास ने पहली दफा गलता (जयपुर) में रामानन्द सम्प्रदाय की गद्दी की स्थापना की। यह गद्दा पहले कनफटा योगियों के कब्जे में थी परन्तु कृष्णदास ने उनको अपनी योग साधना में हराकर इस पर अधिकार कर लिया। कृष्णदास के शिष्य अग्रदासजी हुए। उन्होंने रैवासा (सीकर) में एक अलग गद्दी की स्थापना की।

रसिक सम्प्रदाय मधुर-भाव की उपासना पर बल देता है। इस विचारधारा का प्रचार अयोध्या, जनकपुर और चित्रकूट तक था। राजस्थान में इसका अधिक प्रचार नहीं हुआ परन्तु देश के अन्य स्थानों पर इसका प्रचार था। रसिक सम्प्रदाय की परम्परा 17 वी शताब्दी तक बहुत धीमी गति से चली परन्तु औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् 18 वी शताब्दी में काफी फली-फूली। इस परम्परा की अन्तिम कवयित्री रूपदेवी हुई है जिन्होंने 1861 में 'राम राम' नामक ग्रंथ की रचना की।

विस्णोई सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय की स्थापना जाम्भोजी ने बीस और नौ जीवन-व्यवहार की बातें लेकर सन् 1485 में की। बिस्णोई (यानि बीस औ नौ) सम्प्रदाय उत्तरी भारत में पहला संत सम्प्रदाय है। सिकन्दर लोदी जाम्भोजी के उपदेशों से बहुत प्रभावित थे। जाम्भोजी ने प्राचीन यज्ञ परम्परा को पुनर्जीवित किया। मुकाम (नोखा-बीकानेर) में इस सम्प्रदाय का पवित्र स्थान है।

जाम्भोजी की सबदवाणी में इस सम्प्रदाय के जीवन दर्शन और जीवन-व्यवहार को बताया गया है। इनकी वाणी में इस सम्प्रदाय की संरचना है। जाम्भोजी की सबदवाणी बहुत लोकप्रिय हुई है।

इस परम्परा में तेजोजी चारण (1423-1518), समसदीन (1433-1493), सिवदास, (1443-1531), जैसे कवि हुए है जिन्होंने इस सम्प्रदाय को लेकर फुटकर रचनाएँ लिखी। विहोजी (1532-1616) ने इस सम्प्रदाय को काफी बल दिया। इन्होंने जाम्भोजी के जीवन की घटनाओं को लेकर सात कथाएँ लिखी। इनकी कविताएँ भावनाओं से भरे गहरे भक्ति-भाव को प्रदर्शित करती है। इसी तरह इस परम्परा के कवि केसोदास गोदार (1573-1679) हुए। उन्होंने चार आख्यान काव्य लिखे। इन्होंने भी जाम्भोजी के जीवन को लेकर कथाएँ लिखी। और 'साखी', 'हरजस' और कवित्त रचे। सुरंजनदास पूनिया (1583-1601) ने 'रामरासो', 'गजमुख', और 'उपापुराण' लिखे। इन्होंने भी कई कथाएँ लिखी। इनकी 'कथा हरिगुण' बहुत लोकप्रिय हुई। इनकी भाषा सरल साहित्यिक राजस्थानी थी। इनके अलावा भी विस्णोई सम्प्रदाय में कई कवि हुए जिन्होंने इस सम्प्रदाय के प्रचार हेतु रचनाएँ लिखी।

जसनाथी सम्प्रदाय—संत जसनाथजी ने 1500 ईस्वी के आस-पास कतरियासर (बीकानेर) में जसनाथी सम्प्रदाय की स्थापना की। इस सम्प्रदाय के 35 सिद्धान्त हैं। जसनाथजी ने भी नित्य होम की बात कही और अवतारवाद में

अपना विश्वास व्यक्त किया। इन्होंने वैष्णव विचारधारा और योग को अपनाया। जसनाथियों का नंगे पैर अग्नि पर नृत्य बहुत लोकप्रिय है। जसनाथजी ने लोकप्रिय राजस्थानी में अपने पद्य लिखे। इनके पद्य 'वाणी' कहलाते है। जसनाथजी की वाणी में 50 सबद है।

इसी परम्परा के कवि करमदास हुए है जो कि नागौर में 'खरड़िया' गाँव के रहने वाले थे। इनकी पुस्तक 'हरिकथा' काफी लोकप्रिय रही है। इस पुस्तक में 116 'कड़ी' है। इस सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख कवियों में देवोजी, लालनाथजी, चोखनाथजी, हारोजी, सोभोजी, सोनी आदि प्रमुख है।

निरंजनी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिदासजी थे। इनके अनुयायी भगवान को निरंजन-निराकार मानते हैं। हरिदासजी साखला राजपूत थे।

निरंजनी पथ के अनुयायी मूर्तिपूजा में विश्वास नही रखते। डीडवाना (नागौर) के पास 'गाढा' नामक गाँव है जहाँ निरंजनपंथी साधु फागुन सुदी एकम से द्वादशी तक इकट्ठे होते है, विशाल मेला भरता है।

हरिदास ने 1499 में शरीर छोडा। इनके 'ब्याहुला', 'साखी' 'नाम निरूपण ग्रंथ', 'चालीस पदी', 'चौदह पदी' और 'जोग समाधी' आदि बड़े लोकप्रिय हुए है। हरिदासजी और इस परम्परा के अन्य कवियों की भाषा राजस्थानी, ब्रज और खड़ी बोली का मिश्रण है। जगजीवनदास, ध्यानदास, नागरीदास, सेवादास, भगवानदास निरंजनी, मनोहरदास निरंजनी आदि इस सम्प्रदाय के ख्याति प्राप्त रचनाकार हुए है। जिन्होंने इस सम्प्रदाय के प्रचार हेतु पद्य-रचना की।

निम्बार्क सम्प्रदाय—यह एक सगुण भक्ति सम्प्रदाय है। इसकी मुख्य गद्दी सलेमाबाद (परसुराम पुरा) राजस्थान में है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक परसुराम देवजी थे जो सीकर जिले के ठीकरिया गाँव के गुर्जरगौड़ ब्राह्मण थे। इनके पद 'वाणी' कहलाए। इनके काव्य में 2225 साखी, 15 चरित, 13 लीला कविता और कोई 600 के लगभग पद है। इनके पद्य विरह और भगवत्-प्रेम के पद है। निम्बार्क सम्प्रदाय के लोकप्रिय कवि 'तत्ववेता' (टिकमदास) 16वी शताब्दी में हुए, इनकी गद्दी जैतारण (पाली) में है। इनका काव्य संकलन 'तत्ववेता री वाणी' कहलाता है। भगवत्-भक्ति और उपदेश वाणी का आधार है। इनके काव्य की भाषा ब्रज मिश्रित राजस्थानी है।

दादू सम्प्रदाय—दादू सम्प्रदाय को सत दादू दयाल ने चलाया। इस पंथ में चार तरह के साधु मिलते है। प्रथम तरह के साधु 'खाकी' कहलाते है। ये साधु शरीर पर भस्म रमाते है और सिर पर जटा रखते है। दूसरी तरह के साधु 'विरक्त' कहलाते है जो 'कोपीन' बाँधते है और हाथ में 'तूंबो' रखते है। ये साधु भजन-कीर्तन करते है। तीसरी और चौथी तरह के साधु 'नागा' और 'थामाधारी' कहलाते है। ये श्वेत वस्त्र पहनते है, और खेती, नौकरी, वैदगी आदि कर

अपना गुजर-बसर करते है। नागा साधु वीर, हिम्मतवाले और रण-कुशल होते हैं। शादी सभी तरह के साधुओं के लिए मना है। ये न तो तिलक निकालते है और न ही चोटी रखते है। ये गले मे कंठी भी नही पहनते। ये साधु हाथ में माला रखते हैं और आपस में मिलते है तो 'सत्तनाम' बोलते है। दादूपंथी निरंजन-निराकार व परब्रह्म की सत्ता मानते है। इनका मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं है। 'भेराणा' की डूंगरी (जयपुर) इनका पवित्र स्थान है जहाँ दादू दयाल ने शरीर छोड़ा। दादू की वाणी बहुत ही लोकप्रिय हुई है। इसमें उन्होने प्रेम, गुरु-भक्ति, सत्संग, माया, जीव, ब्रह्म आदि गूढ विषयों पर अपने विचार दिए है। दादू सम्प्रदाय में बखनाजी, रज्जबजी, गरीबदास, जगन्नाथदास, जनगोपाल, दामोदरदास, भीखजन, सतदास, खेमदास, राघवदास, वाजिदजी सरीखे भक्त कवि हुए हैं जिन्होने इस पंथ का अपनी रचनाओं द्वारा काफी प्रचार-प्रसार किया।

चरणदासी सम्प्रदाय—इस पंथ को चरणदासजी ने चलाया। इस पंथ के अनुयायी गुरु को भगवत् प्राप्ति का साधन मानते है। चरणदासी भी मूर्तिपूजा में विश्वास नही रखते। चरणदासी साधु पीले वस्त्र पहिनते है और मस्तक पर गोपीचन्दन का टीका लगाते है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक चरणदासजी ने 14 ग्रंथ लिखे है जिनमे 'अष्टाग योग', 'भक्ति सागर', 'भक्ति पदारथ', 'सबद', 'ब्रह्मज्ञान-सागर' आदि प्रमुख है। चरणदासजी के दो शिष्याएँ—दयाबाई और सहजोबाई हुई है, जिन्हे अपनी रचनाओं के बल पर काफी लोकप्रियता मिली है। दयाबाई ने 'दयाबोध' रचा साथ ही इनकी कृति 'विनयमालिका' भी काफी लोकप्रिय हुई है। दयाबाई चरणदासजी के गाँव मे ही जन्मी थी। सहजोबाई ने अपने गुरु चरणदास की महिमा गाई है और पद रचे है।

लालदासी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक लालदासजी थे जो एक मेव मुसलमान परिवार मे जन्मे थे। इनका जन्म 1540 में हुआ था। ये गृहस्थ थे और कामदारी करके अपना गुजर-बसर चलाते थे। साधना और भक्तिभाव इनके मूल विचार है। हरीदास, डूंगरसी साध, प्राणी साध, भीखण साध, इनके शिष्य हुए है। लालदासजी जन्म से मुसलमान थे। परन्तु वे वैष्णव धर्म को मानते थे। इनके अनुयायी मेव मुसलमान और हिन्दुओं की हर जाति के हुए है। लालदासजी के बाद लालादास जो कि जाति से माली थे, इनकी 'गद्दी' पर बैठे। इस सम्प्रदाय मे 'सुमरण' और 'किरतन' साधना के मुख्य मार्ग है। लालदासी अधिकतर अलवर और उसके आस-पास ही मिलते है। हरीदास इस सम्प्रदाय के ख्याति-प्राप्त कवि हुए है जिन्होने 'आतमा ध्यान जोग संवाद' और 'अजपाजप' सरीखे ग्रंथ लिखे।

गूदड़ पंथ—संतदासी गूदड़ यानि फटे-पुराने कपड़े पहिनते, इसी वजह से उनके अनुयायी गूदड़ पंथी कहलाए। इनकी गद्दी भीलवाड़ा मे 'दातड़ा' गाँव में

है। संतदासजी ने वाणी, साखी (दूहा) रेखता पद रचा जो निगु ण भक्ति से सम्बन्धित है। राम सुमरन पर ये जोर देते हैं। इनकी विचारधारा रामस्नेही सम्प्रदाय की शाहपुरा शाखा से काफी प्रभावित है। संतदास जी अग्रदासजी के शिष्यों की पांचवी पीढी में से एक थे।

रामस्नेही—रामस्नेही सम्प्रदाय के तीन प्रमुख गढ़ है : शाहपुरा, खेडापा और रैण। शाहपुरा के रामस्नेही सम्प्रदाय को रामचरणजी (1719-1798) ने चलाया, इनके अनुयायी निगु ण परमेश्वर को राम नाम से मानते है और उसी का ध्यान करते है। ये भी मूर्तिपूजा मे विश्वास नही रखते। रामस्नेही साधु रामद्वारे मे रहते है और भिक्षा मांगते है। ये साधु लँगोटी के सिवाय शरीर पर कोई वस्त्र धारण नही करते। विवाह नही करते। अग्रवाल और महेश्वरी वनियो मे इस सम्प्रदाय का अधिक प्रचार है। इसके साधु शाहपुरा को अपना पवित्र स्थान मानते हैं। सिंथ का रामस्नेही सम्प्रदाय हरिरामदासजी से निकला है। ये सिंथल (बीकानेर) में जन्मे और 1743 में रामानन्दी साधु जैमलदासजी से दुलचासर (बीकानेर) में दीक्षा ग्रहण की। शाहपुरा वालो की तरह ये भी मूर्तिपूजा में विश्वास नही रखते। इस सम्प्रदाय के साधु किसी तरह का नशा नही करते और रात को भोजन नहीं करते है और पानी को छानकर पीते है। साधु लोग भजन-कीर्तन और 'पंचवाणी' की कथा कहते है।

रैण (मेड़ता) का रामस्नेही सम्प्रदाय दरियावजी को अपना आदि गुरु मानता है। यहां दरियावजी का एक चित्र है। जिसके दर्शन हेतु लोग चैत. सुदी पूर्णिमा को इकट्ठे होते है। दरियावजी ने 'वाणी' नामक एक विशाल ग्रंथ रचा है जिसमें 10,000 के लगभग पद और दोहे आदि है।

खेडापा शाखा रामस्नेही सम्प्रदाय रामदासजी से सम्बन्धित है। इन्होने 1752 मे सिंथल शाखा के हरिरामदासजी से दीक्षा ग्रहण की। इन्होने 1763 में खेड़ापा शाखा की स्थापना की। हालांकि यह सिंथल की एक शाखा मानी जाती है परन्तु इसकी अपनी अलग परम्परा है। रामदासजी की 'वाणी' जोकि सरल राजस्थानी मे है, में यह परम्परा दिग्दर्शित है। इसमे 1700 साखी (दूहा) है जो लगभग 90 प्रसंगो पर कही गई है। 72 'हरजस' और 24 कविताए है। इनका विषय निगु ण भक्ति है। इनके बाद इनके पुत्र दयालुदास आचार्य बने; इनकी वाणी में 19 कविताएं है। परसुराम, पिथोदास, पूरनदास, मुरारीराम आदि इस परम्परा के अन्य कविगण है।

अलखिया सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक लालगिरि थे, जो चुरू के पास 'सुलखणिया' गाँव के रहने वाले थे। 1829 मे जब ये कोई पन्द्रह साल के थे, बीकानेर आ गए। यहाँ इनकी प्रेरणा से एक विशाल कुआ 'अलख सागर' बना। लालगिरि ने एक बार महाराजा रतनसिंह को लक्ष्मीनारायण के मन्दिर जाते हुए

रोक कर कहा—अलख का सुमरन करो, मूर्तिपूजा बेकार है। इससे महाराजा नाराज हुए और उन्हें देश निकाला दे दिया, इसके पश्चात् लालगिरि जयपुर आ गए और जब तक जीवित रहे गलता में रहे। इनकी 'वाणी' सरल राजस्थानी में है। इसमें 29 सबद है। इनकी वाणी में स्वरूप साधना से भगवत् प्राप्ति नाम सुमरिन का विचार हुआ है। इस पंथ के अनुयायियों के लिए अलख निराकार निर्लेप और निरंजन है और यही अन्तिम सत्य है। अलखिया सम्प्रदाय भी नाथों की योग साधना और हठयोग को मानते है। जब वे आपस में मिलते है-तो 'अलख-मौला' कहकर अभिवादन करते है।

आईपंथ—इस पंथ के अनुयायी सीरवी जाति के लोग है जो छड़े-बिघुड़े पाली और जोधपुर में मिलते है। आईजी का विशाल मन्दिर बिलाड़ा (जोधपुर) में है। इस पंथ को जीजी बाई ने चलाया। जीजी देवी का दूध राजपूत का था। जीजीबाई 15वी शताब्दी में हुई, 1504 में इनका स्वर्गवास हुआ।

आई पंथी मास-मदिरा से एकदम दूर रहते है। जीजी देवी ने सन् 1500 में अपनी गद्दी अपने शिष्य गोरन्द को सौंपी और आग्रह किया कि वह इस पंथ के सिद्धान्तों का प्रचार करे। यही से आई पंथ का उद्भव होता है। भगवान दास (जोधपुर) व्यास ने सरल राजस्थानी मे 1736 में 'आई आगद प्रकाश' नामक ग्रंथ की रचना कर इस का प्रचार किया। इसमे इस पंथ की विशेषताओं का भी वर्णन है। ताराचन्द व्यास ने 'आई उग्र प्रकास' की रचना की, इनके अलावा लूम्बा बाबा का नाम आई पंथी कवियों मे उल्लेख करने योग्य है जिन्होंने आई पंथ को लेकर अपनी सशक्त रचनाएँ की।

संत साहित्य के प्रमुख कवि

राजस्थानी साहित्य मे संत कवियों की एक सशक्त परम्परा रही है। यहाँ के संत-साधुओं ने जो साहित्य साधना की है वह राजस्थानी साहित्य की अमूल्य धरोहर है। यहां पर संत परम्परा के ख्यातिप्राप्त प्रमुख कवियों का उल्लेख उनकी रचनाओं का उल्लेख करते हुए किया जाएगा—

दादू दयाल—संत कवि दादू दयाल का जन्म 1543 में अहमदाबाद मे हुआ था। करड़ाला (जोधपुर) और साभर में इन्होंने अपनी साधना की। आमेर, आंधी नारेणा मे ये कई दिन ठहरे, इनका स्वर्गवास 1603 में नारेणा मे हुआ। दादू की वाणी बहुत ही लोकप्रिय हुई है। उनके शिष्य रज्जबजी, जगन्नाथ दास एवं संतदास ने इनके वचनो को संग्रहित कर व्यवस्थित रूप दिया। रज्जबजी के संग्रह का नाम 'अंग बन्धु' कहा गया है। इसमें साखियो को अंग तथा पदों को राग की संज्ञा दी गई है। जगन्नाथ और संतदास द्वारा संकलित वाणी संग्रह को 'हरड़े बानी' कहा गया है।

दादू दयाल अकबर के समकालीन थे । दादू अछूत धुनिया थे, बाद में वे संत हो गए और समाज में उन्हें प्रतिष्ठित स्थान मिला ।

दादू और अन्य निर्गुण संतों ने राजा या सम्राट की सत्ता को कहीं भी चुनौती नहीं दी, और न ही उन्होंने समाज के किसी वर्ग-विशेष के उच्छेद का कोई नारा दिया । उनकी रचनाओं में राजदरबार के चित्रण नहीं मिलते । राज-दरबार से जुड़े हुए लोगों के जीवन के बारे में ये कवि मौन ही है । उन्होंने अपने लिए एक मर्यादा अवश्य निश्चित की थी जो निम्न पंक्तियों में झलकती है—

साध न कोई पग भरे, कबहुं राज दुवारि ।
दादू उलटा आप में, बैठा ब्रह्म विचारि ॥

मुसलमान शासकों और मुल्लाओं के अत्याचारों पर दादू कहते है—

दादू नाहर सिंघ सियाल सब, केते मुसलमान ।
मांस खाय मोमिन भए, बडे मियां का ग्यान ॥

सच्चा मोमिन तो वह जिसका दिल मोम जैसा कोमल हो । हिन्दू-मुसलमान का विवाद उन्हें अच्छा नहीं लगता था । वे कहते है—

दादू ए सब किसके पंथ, धरती अर असमान ।
पाणी पवन दिन राति का, चंद सूर रहिमान ॥

हिन्दू हो या मुसलमान सबको अपने कर्मों का ही फल मिलेगा । इन दोनों के बीच से ही साधुओं का रास्ता निकलता है । जहां ईश्वर रहता है वहां न तो हिन्दुओं का देहरा है और न ही मुसलमानों की मस्जिद । वे ईश्वर को एक और सृष्टि के कण-कण में व्याप्त मानते है । 'हींदू तुरक न जानों दोई'-दोनों एक है ।

दादू दयाल के अनुसार दुनिया और दुनिया का सम्बन्ध 'मिथ्या' है । यह दुनिया सत्य प्रतीत होती है परन्तु सत्य होती नहीं । सत्य तो ईश्वर है जो निराकार एवं रहस्यमय है । दुनिया माया के कारण सत्य प्रतीत होती है । माया का आवरण हट जाने से सत्य प्रकट होता है ।

दादू झूठी काया, झूठा घर, झूठा यहु परिवार ।
झूठी माया देषि करि, फूल्यौ कहा गंवार ॥

दादू सोये हुए व्यक्ति की भांति मोह में संतप्त और शोकातुर है अत. वे उसे जगाने का प्रयास करते है । जागने का अर्थ ज्ञान प्राप्त करना है । उनका मानना है कि जीव को मुक्ति यह तन ही दिला सकता है । वे कहते हैं—

बार-बार यहु तन नहीं नर नाराइण देह ।
दादू बहुरि न पाईये, जनम अमोलक एह ॥

दादू भक्त है, दार्शनिक नहीं । उन्होंने उन दार्शनिक सवालों का जवाब नहीं दिया है जो एक अध्येता के सामने खडे होते है । दादू ने बिना विवाद किए परम्परा में प्राप्त दार्शनिक विचारों को ग्रहण कर लिया है और उन्हें ही प्रस्तुत कर दिया

है। उन विचारों के समर्थन में स्थान-स्थान पर दादू ने मौलिक तर्क भी प्रस्तुत किए हैं। राम को बाजीगर के रूप में देखकर अपनी काव्य दृष्टि का परिचय दादू देते हैं।

दादू का अभिव्यक्ति पक्ष सादगी से भरा है। उनमें तरह-तरह की उपमाएँ और चमत्कार से भरी उलटबांसियाँ लगभग नहीं हैं। दादू का प्रेम सीमा से बाहर नहीं है, और भगवान के सामने भी वे गिड़गिड़ाते नहीं हैं। वे आह्वान करके चुप हो जाते हैं।

दादू के कुछ पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर।
दादू वकता बहुत है, मथि काढ़ै तैं और ॥
दादू दिया है भला, दिया करो सब कोय।
घर में धरा न पाइये, जो कर दिया न होय ॥
दादू देख दयाल को, सकल रहा भरपूर।
रोम-रोम में रमि रह्यो, तू जिनि जानैं दूर ॥
कहतां सुनतां देखता, लेता देता प्रान।
दादू सो कत हूँ गया, माटी धरी मसान ॥

सरल-सुलभी भाषा में अपनी 'वाणी' लिखकर दादू ने पद दलितों एवं अनपढ़ लोगों को सांस्कृतिक नेतृत्व प्रदान किया है।

बखनाजी (1553–1623 लगभग)—दादू दयाल के प्रमुख शिष्यों में से बखनाजी एक थे। ये नारैणा के रहने वाले थे। कोई इन्हें हिन्दू बताता है, कोई मुसलमान। यह एक दादू पंथी साधु थे। बखनाजी की 'वाणी' में 167 पद्य हैं। कहा जाता है कि बखनाजी की आवाज बहुत मधुर थी, और वे स्वयं बहुत अच्छा गाकर अपनी वाणी सुनाते। इसी वजह से उन्होंने गेय पद्य अधिक लिखे। कुछ बानगी यहाँ द्रष्टव्य है—

बखना हरि जळ बरखिया, जळ-थळ भरे अनेक।
करम कठोरा मागमा, रोम न भीगो अेक ॥
पाणी में पत्थर रह्यो, ऊपरि बध्या सिवाळ।
बखना ढाच्या नीकळी, माहि अगन की झाळ ॥

बखना जी की भाषा ग्राम जनता की भाषा थी। भाव प्रकट करने की शैली बहुत सरल और आसानी से समझ में आने वाली थी।

रज्जबजी—दादू दयाल के प्रमुख शिष्यों में रज्जबजी का नाम भी प्रमुखता से लिया जाता है। ये जाति से पठान थे और जयपुर के निकट सांगानेर कस्बे के रहने वाले थे। शादी के लिए वे आमेर गए थे जहाँ इन्हें दादू दयाल मिल गए और वे शादी का विचार त्याग कर उनके शिष्य बन गए। तत्पश्चात् वे दादू दयाल

के पास ही रहे। परन्तु इनका स्वर्गवास सागानेर मे सन् 1689 में हुग्रा। रज्जवजी ग्रधिक पढे-लिखे नही थे परन्तु इन्होने ग्रपनी 'वाणी' में ग्रपने गहरे चिंतन का परिचय दिया है। इन्होंने 'वाणी' ग्रौर 'सर्वगी' नामक दो ग्रथ लिखे जिनमें इनकी कविता-शक्ति, ज्ञान-गरिमा ग्रौर गुरु-भक्ति का ग्रच्छा परिचय मिल जाता है। कुछ पद्य यहां ग्रवलोकनीय है—

रज्जब पारस परस तैं, मिटगो लोह विकार।
तीन बात तो रहि गई, बाक, धार ग्ररु मार॥
भली कहत मानत बुरो, यँहै प्रकृति है नीच।
रज्जब कोठी गार की, ज्यू धोवैं ज्यूं कीच॥

प्रथम दोहे में पारस स्पर्श से लोहे के विकार के मिटने के साथ प्रतीकात्मक ढंग से अपनी बात कहने की कला रज्जबजी ने सुन्दर ढग से बताई है। दूसरे दोहे में 'रज्जब कोठी गार की, ज्यूं धोवैं ज्यूं कीच' मे भी उच्चस्तरीय प्रतीक ग्राया है। रज्जबजी ने बहुत ही सरल भाषा में ग्रपनी रचनाग्रो को रचकर ग्रपनी बात कही जो लोक में बहुत प्रशंसित हुई।

सुन्दरदास—सुन्दरदास भी दादू दयाल के शिष्य थे। छ वर्ष की छोटी उम्र में ही दादू ने इन्हें ग्रपना चेला बना लिया था। कुछ दिनों वे ग्रपने माता-पिता के पास ग्राए, कुछ पढाई-लिखाई की ग्रौर बाद में काशी चले गए। काशी में सुन्दरदास जी 30 वर्ष रहे। यहां उन्होने व्याकरण, साहित्य, वेदान्त, योग ग्रौर षड्दर्शन ग्रादि ग्रंथों का ग्रध्ययन-मनन किया। फिर काशी से वे ग्रपने गुरुभाई प्रयागदास के साथ फतेहपुर ग्राकर रहने लगे।

सुन्दरदास का जन्म सन् 1595 में दौसा (जयपुर) मे हुग्रा था, वे बाल ब्रह्मचारी थे। श्रृंगार रस की कविताग्रो को वे विष समान मानते। केसव कृत 'रसिक प्रिया' उन्हें ग्रच्छी नहीं लगती—

रसिक प्रिया रस मंजरी, ग्रौर सिंगारहि जानि।
चतुराई करि बहुत विधि, विषै बनाई ग्रानि॥

सुन्दरदासजी को घूमने-फिरने का बहुत शौक था। समस्त उत्तरभारत, गुजरात, मध्यप्रदेश, मालवा ग्रादि प्रदेशों मे वे कई बार गए-घूमे। दादू पंथियों के स्थान देखे। घूमने-फिरने से उनके ज्ञान मे काफी वृद्धि हुई। सुन्दरदासजी कभी फतेहपुर, कभी मोरा, कभी कुरसान, कभी ग्रामेर ग्राते-जाते रहते। ग्रपने जीवन के ग्रन्तिम दिनों में वे सागानेर रहे, जहां 1689 मे उनका स्वर्गवास हुग्रा। सुन्दरदास जी ने राजस्थानी की पिंगल शैली मे ग्रपनी रचनाएं की। ब्रज का प्रभाव उनकी रचनाग्रों मे दृष्टिगोचर होता है। परन्तु राजस्थानी शब्दों का काफी प्रयोग हुग्रा है।

पीपाजी–पीपाजी का जन्म संभवत 1383 के आस-पास हुआ होगा । इनके पद्य कई रागो में गाए हुए है । पद्यो की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रज है । 'खिलजीपुर री ख्यात' में पता चलता है कि पीपाजी गागरोनगढ (कोटा) के अचलदास खीची के वंशज थे । एक अन्य मतानुसार पीपा अचलदास खीची के भाई थे । यही मत सही प्रतीत होता है क्योकि इस मत की साम्यता उनके द्वारा रचित पद्यों से होती है । परन्तु 'अचलदास खीची री वचनिका' में पीपा का कही सन्दर्भ नही आया है । यह अनुमान किया जा सकता है कि पीपा माडु युद्ध के पूर्व जो कि सुलतान होशंग घोरी और अचलदास के बीच लडा गया, साधु बन गए होंगे । उस समय वे चालीस के आसपास थे इस दृष्टि से उनका जन्म 1383 के आस-पास ही स्थिर होता है ।

पीपा रचित, फुटकर पद्य विभिन्न हस्त-प्रतियो में मिलते है । ये पद्य कई संत-परम्पराओ की हस्त-प्रतियो मे भी है । गुरु ग्रन्थ साहब मे भी एक पद्य मिलता है । ये पद्य संगीत की अनेक रागो मे गाए जाते । इनके अतिरिक्त 13 साखी भी इनकी लिखी मिलती है । पीपा के पद्यो मे निर्गुण राम भक्ति का निरूपण मिलता है । इन्हें रामानन्द के 12 प्रमुख शिष्यों मे से माना जाता है ।

काजी महमूद—काजी महमूद प्रारम्भिक संत कवियो में से एक प्रमुख कवि हैं जिनके पद्य राजस्थानी मे आज भी लोकप्रिय है । इनके 45 के लगभग पद्य मिलते है जो विभिन्न हस्तप्रतियो में बिखरे पडे है । इनके पद 16 वी शताब्दी के प्रारम्भ मे बहुत लोकप्रिय रहे है । इनके पद्यो की भाषा सरल राजस्थानी है जिनमे खडी बोली का भी प्रभाव है ।

मीरांबाई (1498–1547)—मीरां का मध्यकालीन सत साहित्य में उच्च स्थान है । समस्त भारत मे इनके पदों का प्रचार हुआ है । मेडता के राव रतनसी की पुत्री मीरा का जन्म 1498 मे डेगाना के पास बाजोली ग्राम में हुआ था । अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् मीरा मेड़ता मे पली और राणा सागा के पुत्र भोजराज को ब्याही गई । भोजराज की मृत्यु 1522 मे होती है और मीरा 1531–32 के आस-पास वापस मेडता आ जाती है । 1534 मे मीरा तीर्थ-यात्रा पर निकल पडती है । जीवन के अन्तिम दिनो मे मीरा द्वारका मे रहती है और यही अपना दैहिक शरीर छोडती है ।

मीरा के रचे हुए पांच ग्रन्थ और कुछ फुटकर रचनाएँ बताई जाती है : 'गीत गोविन्द की टीका', 'नरसी जी रो माहेरो' 'सत्यभामाजी नूं रूसणो', 'राग सोरठ' और 'राग गोविन्द' । परन्तु एक मान्यता है कि 'गीत गोविन्द की टीका', 'नरसी जी रो माहेरो' और 'सत्यभामा जी नूं रूसणो' ग्रन्थ मीरा रचित नही है । 'राग सोरठ' और 'राग गोविन्द' भी स्वतन्त्र ग्रन्थ नही माने जाते । निष्कर्ष यह निकलता है कि मीरा ने मात्र पदों की रचना की है कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही लिखे । वैसे भी मीरा की लोकप्रियता उनके पदों मे ही है । ये पद समस्त भारतवर्ष मे

गाये जाते है। ये पद्य इतने सरल और भावपूर्ण है कि गुजराती, व्रज आदि कई भाषाओं में ढल गए है। मीरा के पद्य गुजराती, मराठी और हिन्दी मे भी प्रकाशित हुए है जिनका अनुवाद बंगला, अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं मे भी हुआ।

मीरां की भाषा बोलचाल की राजस्थानी है, जिस पर व्रजभाषा, गुजराती और खड़ी बोली का प्रभाव है। मीरां के पद्य सरल स्वाभाविक और भक्ति-भाव से सराबोर है। भक्त हृदय को मुग्ध करने मे ये अजोड है। मीरा के पद्यो में उसका हृदय बोलता है। 'जाओ हरि निरमोहड़ा रे, जाणी थारी प्रीत', 'राणोजी म्हानें आ बदनामी लागे मीठी', 'म्हारे सिर पर साळगराम, राणोजी म्हारो कांई करसी' सरीखे पद्य भक्ति भावनाओ से लबालब भरे हुए है। मीरा की भक्ति पति-पत्नी के भाव की भक्ति थी। श्रीकृष्ण के प्रति मीरा की साधना अपने पति के रूप मे थी। इसी वजह से मीरा के पद्यो में भक्ति और शृंगार दोनों आए है। परन्तु मीरा का शृंगार अलौकिक शृंगार है। इसमें न तो विद्यापति जैसा खुलापन है, न ही सूर जैसी ठिठोली और न ही बिहारी जैसी मादकता है। मीरां का शृंगार पवित्र शृंगार है। मीरां की कविता भक्ति भावना की सच्ची कविता है। कविता में कवि हृदय की यथार्थ अनुभूति है। एक पद्य बतौर बानगी यहां उद्धृत किया जाता है—

> दरस बिन दूखण लागे नैण।
> जब से तुम बिछुरे प्रभु मोरे, कबहूं न पायो चैन।
> सबद सुणत मेरी छतियां कांपै, मीठे-मीठे बैन॥
> बिरह व्यथा कासूं कहूं सजनी बहगई करवत ऐन।
> कल न परत पल हरि मग जोवत, भई छमासी रैन।
> मीरां के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटण सुख देण॥

दीनजी (1753-1833 के लगभग)—उदयपुर के गुड़ली गाँव में जन्मे, कैलासपुरी (उदयपुर) में रहे, दीनजी महाराणा भीमसिंह के बहुत प्रिय थे। ये जाति से लुहार थे। महाराणा भीमसिंह जब तक जिंदे रहे वे मेवाड मे रहे, तत्पश्चात् कोटा चले गये। वहां एक दिन स्नान करते वक्त चम्बल मे डूब गए। दीनजी प्रतिभावान कवि और योग सिद्ध पुरुष थे। इनकी भाषा बोलचाल की राजस्थानी थी। इनकी कवितायें—दीन प्रकाश, परमार्थ प्रसंग, चितावण सार, ईसर स्तुत, राज चेतावणी, कक्का बत्तीसी गगड नीसांणी पद्य और फुटकर रचनाएं है। इन्होने लोकप्रिय चकड़ी, बारहमासा, फाग आदि का प्रयोग किया है।

इनकी कविताओं में ब्रह्म-ज्ञान, जाति-पांति का झूठा भेदभाव, योग, वैराग्य ईश्वर के प्रति समर्पण आदि अनेकानेक विषय आए है। इनकी साधना निर्गुण-

भक्ति की तरफ अधिक रही है। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जा रहे है—

जितना दीसै थिर नही, थिर है निरंजन नाम।
ठाट-पाट नर थिर नही, ना ही थिर धन धाम।।
ना ही थिर धन-धाम, गाम घर हस्ती घोडा।
नजर आत थिर नाहि, नाहि थिर साथ सजोडा।।
कहे दीन दरवेस, कहा इतने पर इतना।
थिर निज मन सत सबद, नाही थिर दीसै जितना।।

इनके गीत कृष्ण की लीलाओं मे प्रयुक्त हुए है। इनकी कुंडलियां काफी लोकप्रिय रही है।

गवरी बाई (1758-1808)—गवरी बाई का जन्म डूंगरपुर मे एक नागर ब्राह्मण परिवार मे हुआ। इनका विवाह छोटी उम्र मे ही हो गया था। परन्तु विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही इनके पति का स्वर्गवास हो गया। इस वक्त का विधवा जीवन बहुत कठिन था। भावी विधवा जीवन को देखकर गवरी बाई ने पढना लिखना शुरू किया। बाद मे भगवत्-गीता का अध्ययन किया और भगवत्-भक्ति को समर्पित हो गई। भगवत्-भक्ति से गवरी बाई की ख्याति चारो तरफ फैलने लगी और महारावल शिवसिंह ने उन्हे एक मन्दिर बनाकर दिया। बाद मे गवरी बाई काशी चली जाती है और वही उनका स्वर्गवास होता है। गवरी बाई ने फुटकर पद्य लिखे जिनमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की महिमा गाई गई है। गवरी बाई की भाषा राजस्थानी, गुजराती और व्रज का मिला-जुला रूप है। इनकी रचना की एक बानगी यहां प्रस्तुत की जा रही है—

होरी खेलत मदन गोपाल।
मोर मुगट कर कछनी काछे, चंचळ नैण विसाल।
सब सखियन में मोहन सोहत, ज्यूं तारन विच चांद उजाल।
चोवा चन्दन और कुम कुमा, उडत अबीर गुलाल।
ताल मृदंग झांझ डफ बाजे, गावत वसंत धमाल।
गवरी के प्रभु नटवर नागर, निरखी भई निहाल।।

गवरी बाई के पद्यो की संख्या 610 के लगभग है, जो बहुत लोकप्रिय हुए है।

मध्यकाल में कुछ अन्य कवि भी जैसे दुली बाई, नामदेव, श्रीकृष्णदास आदि भी हुए हैं, जिनका संत साहित्य मे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

जैन काव्य

जैसा कि ज्ञातव्य है जैन काव्य, काव्य के लिए नहीं अपितु ज्ञान-वृद्धि, धर्म प्रसार और चरित्र निर्माण का उद्देश्य लेकर लिखा गया है। जैन कवियों ने कई वर्णनात्मक कविताएँ इस उद्देश्य को लेकर रची है। इसी तरह चरित कथा और आख्यान काव्य भी जैन कवियो द्वारा रचित सामने आये है। ब्रह्म जिनदास (1388-1468) 15वी शताब्दी के महान् विद्वान और कवि हुए है। कई दर्जन संस्कृत कविताओ के अतिरिक्त इन्होने पचास मे भी अधिक वर्णनात्मक कविताएँ हिन्दी एव गुजराती मिश्रित राजस्थानी मे 'रास' लिखी है। इनका 'पदम पुराण' पर आधारित 'राम सीता राम' अपनी तरह का प्रमुख ग्रन्थ है।

मध्यकाल के जैन कवियो मे छीहल एक ख्याति प्राप्त कवि हुए है। 'पच सहेली रा दूरा' इनका लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसकी रचना उन्होने 1518 मे की। छीहल की भाषा बोलचाल की राजस्थानी है। जिन पांच सहेलियो का वर्णन छीहल ने अपने दूहों में किया है वे पांच सहेली मालिनि, तम्बोलिनि, छीपन, कलाली और सोनारी है। इन पाँचों सहेलियों के पति परदेश, है। छीहल ने इनकी मनोभावनाओं को अपने दोहो मे व्यक्त किया है—

पहिली बोली मालिणी, मोरे दुक्ख अनन्त।
बाला जोवन छंडि करि, गए देसाउरि कंत॥
तन तरवर फळ लागिया, दोई नारंग रसपूर।
सूकण लागी वेलडी, सीचण हारा दूर॥

छीहल का एक ग्रन्थ 'नामबावनी' नाम से भी मिलता है। इसमे कवि ने, गहरी भावनाओ का निरूपण किया है। इनके अतिरिक्त 'पथी गीत, 'उदरगीत' भी इन्होंने लिखे है।

कुशललाभ—कुशललाभ के समय विदेशी आक्रमणों का सदियों तक सामना करने वाला भारतवर्ष खण्ड-खण्ड होकर पूरी तरह विदेशी दासता के चंगुल में फँस गया था राजस्थान और उसके चारों तरफ फलती-फूलती संस्कृति ह्रासोन्मुख हो गई थी। धर्म गुरुओ ने जन-सामान्य के फँसाने के उपक्रम, जादू-टोना, तांत्रिक और मांत्रिक अभिचार, भूत-प्रेत, यक्ष-व्यंतरो का आतंक तथा ग्रहगोचरों की उल्टी सीधी गति से ग्रस्त मानवो के भाग्य का दिग्दर्शन आदि कुशललाभ की कृतियों के अभिन्न अंग बने है। कुशललाभ के समकालीन प्राय सभी सुयोग्य साहित्यकार, कवि या लेखक को किसी न किसी सेठ साहूकार, शासक, सामन्त या सम्राट का आश्रय प्राप्त था। उनमे से अधिकांशतः जन साधारण के जीवन से बहुत दूर

थे। अपने आश्रयदाताओं के काल्पनिक गुणों का बखान और चाटुकारिता उनके जीवन का अभिन्न अंग बन चुके थे। इस युग में साधु प्रकृति के ऐसे साहित्यकार भी विद्यमान थे, जिन्होंने जीवन-यापन के साथ-साथ लोक के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान हेतु अपना जीवन समर्पित कर दिया था। कुशललाभ इसी कोटि के साहित्यकार थे। वे एक विशाल राज्य के शासक के साहित्यिक और नैतिक आचार्य थे। भारतीय जीवन का उन्होंने अत्यन्त समीप से अध्ययन किया था। गांव-गांव घूम कर, जन सामान्य के सम्पर्क द्वारा उन्होंने लोक-जीवन का भी सम्यक्-रूपेण ज्ञान प्राप्त किया था।

कुशललाभ ने संभवत सन् 1543 (सं 1600) में साहित्य कर्म शुरू किया था। उनके जन्म और जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कोई विशेष ज्ञातव्य तथ्य उपलब्ध नहीं है। कुशललाभ की आयु संवत् 1600 में 20 से 25 के मध्य रही होगी। ऐसी स्थिति में सं 1575 से 1580 के मध्य कही उनकी जन्म तिथि स्थिर की जा सकती है। कवि की अन्तिम रचना 'गुण सुन्दरी चोपई' है जिसका रचना-काल सं 1648 स्थिर होता है। इस आधार पर 1650 वि. या उसी के आस-पास उनके स्वर्गवास की कल्पना की गई है।

कुशललाभ के जन्म के कुल, जन्म स्थान, माता-पिता आदि से सम्बन्धित जानकारी किसी भी स्रोत से उपलब्ध नहीं है। हां, अपनी रचनाओं में उन्होंने अपने गुरु का नाम अभय धर्म बताया है।

कुशललाभ की प्रारम्भिक शिक्षा कहां हुई, इस सम्बन्ध में भी कुछ कहना कठिन है। हां वे एक योग्य गुरु के योग्य शिष्य, उच्चकोटि के विद्वान और स्वयं भी एक सुयोग्य गुरु थे। 'माधवानल कामकदला चोपई', 'ढोलामारवणी री चोपई', और 'पिंगल सिरोमणि' में वे स्वयं को जैसलमेर के राजकुमार हरराज के गुरु व्यक्त करते है।

धार्मिक ग्रन्थो के पठन-पाठन के साथ-साथ उन्होंने छंदशास्त्र, कामशास्त्र, संगीतशास्त्र और लोक साहित्य का भी अध्ययन किया था। 'शत्रुंजय यात्रा, स्तवन' से उनके भौगोलिक ज्ञान का भी परिचय मिलता है। उनको सामन्ती शिष्टाचार और प्रादेशिक इतिहास की भी जानकारी थी। 'माधवानल कामकंदला चौपई', "ढोला मारू 'चौपई', 'अगडदत्त रास' आदि में ऐसी जानकारी विपुल मात्रा में देखने को मिलती है। पिंगलशास्त्र जैसे दुरूह विषय के ज्ञान के लिए उन्हें कितनी साधना करनी पडी होगी, यह उनकी रचना 'पिंगल सिरोमणि' से पता चलता है। कुशललाभ द्वारा रचित एवं संपादित अबतक अठारह रचनाएँ प्रकाश में आई हैं जिनमें, माधवानल-कामकंदला चौपई, ढोला-मारू चौपाई, जिनपालित जिनरक्षित रास, तेज सार रास, अगडदत्त रास, पिंगल सिरोमणि,

स्तंभन पार्श्वनाथ स्तवन, भीमसेन राजहंस चौपई शत्रुंजय तीर्थयात्रा स्तवन, गुण सुन्दरी चौपई, नवकार छंद, गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन, थो पूज्य-वाहणगीत, पार्श्वनाथ दशभव स्तवन, महामाई दुर्गा सातसी, भवानी छंद, स्थूलिभद्र छत्तीसी, और कवित्त सवैया । इन ज्ञात रचनाओं में कालक्रम की दृष्टि से माधवानल कामकंदला प्रथम रचना है। इस रचना का मूल स्रोत 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' की इक्कीसवीं कथा है, जिसे अनुरोधवती पुतली ने सुनाया है । ढोला मारवणी चौपई की कथा का मूल लोककथाओं में निहित है । 'तेज सार रास' का आधार भी कोई प्राचीन जैन-कथा ही रहा होगा, 'भीमसेन हंसराज चौपई' भी कथाकाव्य है, ऐसे ही विभिन्न आधारों को लेकर कुशललाभ ने कई रचनाएँ लिखी। 'स्थूलिभद्र छत्तीसी' आचार्य स्थूलिभद्र की प्रशंसा में रचा गया काव्य है। दुर्गा-सातसी की रचना मार्कण्डेय पुराणगत दुर्गा सप्तशती के आधार पर की गई है।

'पिंगल सिरोमणि' राजस्थानी भाषा का प्रथम लक्षण ग्रंथ है, जिसमें छंद, अलंकार, कोश (नाममाला), डिंगल गीत-छंद, प्रहेलिका आदि विषयों को समाविष्ट किया गया है। सम्पूर्ण सामग्री आठ अध्यायों में विभक्त है। इसके रचयिता के बारे में विद्वान मतभेद करते हैं।

कुशललाभ रचित 'उडिंगल नाममाला' को राजस्थानी भाषा का प्राचीनतम नाम संज्ञक कोष या पर्यायकोष कहा जा सकता है, जिसमें 389 शब्दों के एकाधिक पर्याय नाम दिए गए हैं।

कुशललाभ का अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन सूक्ष्म और व्यापक था। 'ढोला-मारू री चौपई' में दोहों के अनुरूप भाषा के निर्वाह का प्रयत्न किया गया है। भाषा में देशज शब्दों का बाहुल्य है और पार्श्ववर्ती बोलियों के नाना रूपों से भाषा में विशेष माधुर्य भरा है। कहावतों का भी प्रयोग भाषा में हुआ है। कुशललाभ की शैली में चारणी, जैन और लौकिक तीनों शैलियों के दर्शन हो जाते हैं। अपने काव्य में चौपई, छप्पय छंद, वस्तुछंद, मालिनी छंद, श्लोक, दूहा, सारसी, त्रिभंगी, त्रोटक, सोरठा आदि का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त लौकिक और शास्त्रीय संगीतात्मक बंधों को भी अपनाया है, इसके लिए शास्त्रीय रागों और ढालों का आश्रय लिया है। कुशललाभ की काव्य-कृतियाँ आध्यात्मिक और प्रेमाख्यान दो रूपों में आई है। प्रेमाख्यानों में शृंगार रस का आस्वाद है, आध्यात्मिक रचनाओं में शांत रस की प्रधानता है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का चित्रण हुआ है। कहीं-कहीं करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स, भयानक, वात्सल्य आदि रसों के भी चित्रण देखे जा सकते हैं। ढोला-मारू की संयोग वेला की वार्ता तथा मारवणी-मालवणी संवाद में और 'स्थूलिभद्र छत्तीसी' में योजीका कोशा वेश्या की चित्रशाला में आने स्थूलिभद्र को देखकर कोशा की सखियों द्वारा ली गई चुटकियों में हास्य रस भ

दिखाई देता है। प्रकृति चित्रण की छटा 'भीमसेन हंसराज चौपई' में मिलती है। 'ढोला-मारवणी चौपई' में कुरजा का बोल सार की तरह सालता है। आकाश में चमकती बिजलियाँ, प्रियतम की प्रतीक्षारत रमणियाँ, चातक की पीउ-पीउ की निरन्तर टेर, वर्षा की निरन्तर रसझडी से रसमय वातावरण कुशललाभ की कविताओं में चित्रित हुआ है। वास्तव में इन्ही विशेषताओं ने कवि को अपने काल के प्रमुख कवियों में लाकर खड़ा किया है।

समय सुन्दर (1533–1646)—समय सुन्दर प्रसिद्ध कवि और विद्वान हुए हैं। इनकी रचनाओं की संख्या अत्यधिक है और ये विविध प्रकार की हैं। इन्होंने संस्कृत में कई कृतियाँ लिखी हैं। राजस्थानी में 'रास' और 'छप्पय' में 24 के लगभग इनकी वर्णनात्मक कविताएँ मिलती हैं। इनके अलावा पद्य के नौ संग्रह मिलते हैं जिन्हें छत्तीसी के रूप में जाना जाता है। इनके अलावा 550 गीत एवं फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं। इनमें से बहुत सी कविताएँ ऐसी हैं जो किसी विशेष राग में गाई जाती हैं।

समय सुन्दर का काव्य अपने कथ्य प्रकार, प्रभाव लोकप्रिय धुनों एवं भाषा की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने कविता के जरिए लोगों में सांस्कृतिक एवं धार्मिक समृद्धि हेतु महत्त्वपूर्ण सेवा की है। इन्होंने कई स्थानों पर अपने युग के यथार्थवादी चित्र खींचे। सन् 1630 (वि सं 1687) में गुजरात में जो भीषण अकाल पड़ा उसका हृदय-स्पर्शी चित्र खींचा है। इस अकाल में कवि खुद भी पीड़ाग्रस्त हुआ था। अकाल की भयावह स्थिति का यथार्थवादी चित्रण अपनी कविता में किया है।

दौलत विजय—जैन कवियों में दौलत विजय (1643–1743) का नाम काफी लोकप्रिय रहा है। 'खुमाण रासो' इनका लिखा ग्रंथ है। यह ग्रंथ काफी लोकप्रिय हुआ है। दौलत विजय ने इस ग्रंथ की रचना 1712 ई में की परन्तु इस ग्रंथ की जो हस्तप्रति प्राप्त हुई है वह पूर्ण नहीं है। इसमें 3576 पद्य है। जिसमें बप्पा रावल से लेकर रतनसिंह तक मेवाड़ के शासकों का विवरण दिया गया है। दौलत विजय ने इसमें खुमाण और पद्मावती पर दो स्वतन्त्र कविताएँ दी हैं। इस ग्रंथ के आठ भाग हैं। भाग 2, 3 एवं 4 में खुमाण और उसके विवाह का वर्णन आया है। शेष भाग अलग-अलग घटनाओं से जुड़े हुए हैं जो मेवाड़ के शासकों के साथ घटी हैं। इस ग्रंथ की भाषा ब्रज मिली राजस्थानी है। ग्रंथ में खुमाण का वर्णन अधिक विस्तार में होने की वजह से इसका नाम 'खुमाण रासो' रखा गया है। कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

प्रसन होय सुरराय, वाचा वर दीजे।
बालक बेलें बाह, प्रीत भर प्यालो पीजे ॥
पुहप धूम अम्भले, सेस रूळ वळे जीह ळळे।
धूम त्र परजळे, अग अळ वळे अतुळ वळे ॥

कविता की दृष्टि से इस ग्रंथ में आया खुमाण और पदमावती की घटना लिए भाग बहुत ही सुन्दर एवं सरस है। इसमें राजस्थान के लोक जीवन के चित्राम भरे हैं। गणगोर, तीज, सावणी, औरतों के शृंगार आदि का वर्णन बहुत ही सुन्दर और साहित्यिक रूप में हुआ है। खुमाण का विवाह दिल्ली के राजा की बेटी 'रति सुन्दरी' से होता है। फिर वह शिकार पर जाता है तो नरवर में 'तिलोत्तमा' से प्रेम कर बैठता है जो अपने पति द्वारा परित्यक्ता औरत थी। नरवर का राजा भी अपनी बेटी 'लाला' की खुमाण से शादी करता है। इन सब से 'रति सुन्दरी' बहुत दुःखी होती है। खुमाण 'लाला' और 'तिलोत्तमा' को लेकर चित्तौड़ आता है। उधर तिलोत्तमा का पूर्व पति महमूद गजनी से मिलता है। युद्ध होता है, परन्तु युद्ध में खुमाण की विजय होती है।

पद्मणी अल्लाउद्दीन की घटना 'गोरा-बादल पद्मणी छप्पय' से कवि हेमरतन सूरि से प्रभावित प्रतीत होता है। ढोला-मारु, शिवदास गाडण और खिड़िया जग्गा की वचनिका, पृथ्वीराज रासो का प्रभाव भी कवि पर दिखाई पड़ता है। 'खुमाण रासो' इस काल की प्रतिनिधि रचना है।

विनय चन्द्र—विनयचन्द्र ने 1648 और 1712 के मध्य अपनी भक्ति भावनाओं की रचनाएँ 'चौबीसी' और 'बीसी' लिखी। 'उत्तम कुमार चरित चोपई' इनकी प्रमुख वर्णनात्मक कविता है। इसमें उत्तम कुमार के रोमांस और साहसिक कार्यों वर्णन हुआ है। उत्तम कुमार बनारस के राजा मकरध्वज का पुत्र था जिसने बाद में जैन धर्म को स्वीकार किया।

जयमलजी—जयमलजी कृत काफी रचनाएँ मिलती हैं। इनकी कविताएँ समर्पण, भाव और कुछ स्तुति कुछ आख्यान तरह की रचनाएँ हैं, जिनमें 'आत्मिक छत्तीसी', 'उपदेश तीसी' 'उपदेश बत्तीसी', 'जीव चेतावनी', 'चौरासी स्तवन', 'चार मंगल', 'चौसठ जातियों की सज्झाय', 'शांतिजिन स्तवन' आदि प्रमुख हैं। आख्यान काव्यों में अर्जुनमाली, उदईराजा, मेघकुमार, नेमीनाथ, परदेसी राजा, महारानी देवकी, सती द्रौपदी आदि हैं जिनमें इन कथाओं को जैन तरीके से कहा गया है। सभी कविताएँ सरल राजस्थानी में लिखी गई हैं। कवि का उद्देश्य जैन धर्म और दर्शन और उसमें विश्वास को प्रगाढ़ करना है।

भीखणजी—भीखणजी की जैन शास्त्र में गहरी पैठ थी। इन्होंने तेरापंथी (श्वेताम्बर) जैन संप्रदाय चलाया। वे काव्य कौशल के कवि थे। इनकी एक स्पष्ट कविता दृष्टि थी। 1726 में इनका जन्म हुआ और 1803 में स्वर्गवास। 1760 ई. में इन्होंने तेरापंथ की स्थापना की। इनकी रचनाएँ दो तरह की हैं। एक तरह की रचनाएँ सैद्धान्तिक और आधारभूत पक्ष को उजागर करती हैं और दूसरी तरह की कविताएँ वर्णनात्मक हैं। इनमें 'गोमाल री चोपई' और 'उदई राजा री वखाण' आदि प्रथम तरह की रचनाएँ हैं और 'नव पदारथ' 'श्रावक बराह वरात' आदि दूसरी तरह की रचनाओं में गिनी जा

दिखाई देता है। प्रकृति चित्रण की छटा 'भीमसेन हंसराज चौपई' में मिलती है। 'ढोला-मारवणी चौपई' में कुरजा का बोल सार की तरह सालता है। आकाश में चमकती बिजलियाँ, प्रियतम की प्रतीक्षारत रमणियाँ, चातक की पीउ-पीउ की निरन्तर टेर, वर्षा की निरन्तर रसझड़ी से रसमय वातावरण कुशललाभ की कविताओं में चित्रित हुआ है। वास्तव में इन्हीं विशेषताओं ने कवि को अपने काल के प्रमुख कवियों में लाकर खड़ा किया है।

समय सुन्दर (1533–1646)—समय सुन्दर प्रसिद्ध कवि और विद्वान हुए हैं। इनकी रचनाओं की संख्या अत्यधिक है और ये विविध प्रकार की हैं। इन्होंने संस्कृत में कई कृतियाँ लिखी हैं। राजस्थानी में 'रास' और 'छप्पय' में 24 के लगभग इनकी वर्णनात्मक कविताएँ मिलती हैं। इनके अलावा पद्य के नौ संग्रह मिलते हैं जिन्हें छत्तीसी के रूप में जाना जाता है। इनके अलावा 550 गीत एवं फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं। इनमें से बहुत सी कविताएँ ऐसी हैं जो किसी विशेष राग में गाई जाती हैं।

समय सुन्दर का काव्य अपने कथ्य प्रकार, प्रमाप लोकप्रिय धुनों एवं भाषा की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने कविता के जरिए लोगों में सांस्कृतिक एवं धार्मिक समृद्धि हेतु महत्त्वपूर्ण सेवा की है। इन्होंने कई स्थानों पर अपने युग के यथार्थवादी चित्र खींचे। सन् 1630 (वि. सं 1687) में गुजरात में जो भीषण अकाल पड़ा उसका हृदय-स्पर्शी चित्र खेंचा है। इस अकाल में कवि खुद भी पीड़ाग्रस्त हुआ था। अकाल की भयावह स्थिति का यथार्थवादी चित्रण अपनी कविता में किया है।

दौलत विजय—जैन कवियों में दौलत विजय (1643–1743) का नाम काफी लोकप्रिय रहा है। 'खुमाण रासो' इनका लिखा ग्रंथ है। यह ग्रंथ काफी लोकप्रिय हुआ है। दौलत विजय ने इस ग्रंथ की रचना 1712 ई. में की परन्तु इस ग्रंथ की जो हस्तप्रति प्राप्त हुई है वह पूर्ण नहीं है। इसमें 3576 पद्य हैं। जिसमें बप्पा रावल से लेकर रतनसिंह तक मेवाड़ के शासकों का विवरण दिया गया है। दौलत विजय ने इसमें खुमाण और पद्मावती पर दो स्वतन्त्र कविताएँ दी हैं। इस ग्रंथ के आठ भाग हैं। भाग 2, 3 एवं 4 में खुमाण और उसके विवाह का वर्णन आता है। शेष भाग अलग-अलग घटनाओं से जुड़े हुए हैं जो मेवाड़ के शासकों के साथ घटी हैं। इस ग्रंथ की भाषा व्रज मिली राजस्थानी है। ग्रंथ में खुमाण का वर्णन अधिक विस्तार से होने की वजह से इसका नाम 'खुमाण रासो' रखा गया है। कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

प्रमन होय मुस्काय, यावा बरीशै।
चालक बैठे बार, ग्री भर प्योमो पीवै ॥
पुहर धूप अम्बरे, मेग म्ह बढै वीह मंढ।
धूम न परबढै, अग पढ बढै पजुढ बढ ॥

माधव द्वारा उपकृत और विवाहित जयन्ति माधव के विरह में व्याकुल रहने लगी और छिप-छिप कर पृथ्वी लोक में आने लगी। भेद खुल जाने पर उसने आना बन्द कर दिया तो माधव स्वयं इन्द्रपुरी पहुँचने लगा। एक दिन इन्द्र सभा में आयोजित नाटक हेतु प्रस्थान के समय जयन्ति ने माधव को 'भ्रमर' बनाकर अपनी कंचुकी में छिपा लिया। नृत्य करती जयन्ति की मनःस्थिति से इन्द्र को जब जयन्ति की कन्चुकी में भ्रमर रूप में माधव की उपस्थिति का ज्ञान हुआ तो उसने पुनः जयन्ति को पृथ्वी लोक में वेश्या के घर जन्म लेने का शाप दिया। फलस्वरूप जयन्ति ने राजा कामसेन की नगरी कामावती में 'कामा' नामक वेश्या की पुत्री के रूप में जन्म लिया और उसका नाम 'कामकदला' रखा गया।

इधर विरहातुर माधव के अतिशय रूप-सौन्दर्य और वीणावादन से आकर्षित पुष्पावती नगरी की युवतियाँ और अन्तःपुर की राज-महिषियाँ कामासक्त होने लगी। नागरिकों द्वारा शिकायत किए जाने पर राजा गोविन्द चन्द्र ने माधव को देश निकाला दे दिया। पुष्पावती से निष्कासित माधव इतस्ततः भ्रमण करता कामावती नगरी में पहुँचा। यहाँ के राजा कामसेन के दरबार में खेले जा रहे नाटक 'इन्द्र महोत्सव नाटक' में संगीत की विसंगतियो को सुना और अपना सिर धुनने लगा। पूछे जाने पर उसने स्वर भंग की बातें बताई। जब ये बातें राजा तक पहुँची तो राजा ने राज सभा में बुलाकर उसे सम्मानित किया। कामकंदला और माधव ने राज सभा में एक-दूसरे को देखा।

नृत्यरत कामकदला को अपने कुच पर आ बैठे भवरे को पवन न्यास के बल पर उड़ाते देख माधव की स्मृति लौट आई। कंदला के कौशल पर मुग्ध हो उसने राजा द्वारा पुरस्कार मे दी गई समस्त भेंट कदला पर न्योछावर कर दी। राजा ने इसे अपना अपमान समझ कर उसे देश निकाला दे दिया। जब वह नगर छोड़ रहा था तो कामकदला ने रात भर उसके साथ रहने का निवेदन किया। माधव ने उसकी बात स्वीकार कर ली। दोनों गहरे प्रेमपाश मे डूब गए। माधव यहाँ से उज्जैन चला गया। कंदला के विरह से संतप्त माधव ने उज्जैन स्थित महाकाल शिव के मन्दिर मे एक विरह गाथा दिवारों पर लिखकर छोड़ दी। सम्राट विक्रमादित्य ने इसे पढ़ा तो वे अत्यन्त दु:खी हुए। भोग विलासिनी नामक वेश्या की सहायता से राजा विक्रमादित्य ने गाथा-लेखक माधव की खोज करवाई और उसकी व्यथा का कारण ज्ञात किया। माधव के इस प्रेम की परीक्षा लेने के लिए राजा ने एक से एक बढकर रूप-सौन्दर्य गर्विता कामिनियाँ देने का प्रलोभन दिया, परन्तु जयन्ति के विरह में आतुर माधव ने उनकी उपेक्षा कर दी। प्रेम प्रसंग में ... को खरा मानकर विक्रमादित्य ने कामावती नगरी के राजा को सन्देश भेजा ...ंदला को देने की बात कही। जब राजा नही माना तो विक्रमादित्य ने ... पर चढाई कर दी और कामसेन को पराजित कर काम कंदला को प्राप्त

हैं। इनकी कविताओं का उद्देश्य जैन धर्म और दर्शन को जनसाधारण तक पहुँचाना था।

ज्ञानसार—(1774-1841) ज्ञानसार ने भक्ति भावनाओं की रचनाएं कई रागों में लिखी हैं। 1820 में इन्होने 413 पद्यो की रचना 'चन्द चौपई समालोचना' लिखी। 'माला पिंगल' छंद शास्त्र पर इनका ग्रन्थ है। 'पुरबदेस वर्णन' में बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले की प्रथा, परम्परा, जीवन के तरीके, आदि बहुत ही वास्तविक ढंग से वर्णित हुए है। इस ग्रंथ की भाषा ब्रज मिश्रित राजस्थानी है।

उपरोक्त कवियो के अलावा धर्मवर्द्धन (धरमसी), जिनहर्ष (जसराज), जिनराज सूरि आदि जैन कवि हुए हैं जिन्होने जैन काव्य को समृद्ध बनाया।

लौकिक प्रेम काव्य

मध्यकाल मे प्रचुर मात्रा मे लौकिक प्रेमकाव्यो की रचना हुई है। इनमे से कइयो के लेखक ज्ञात है और कइयो के अज्ञात। कुशललाभ सरीखे ज्ञात लेखक ने 'माधवानल-कामकंदला' जैसी प्रसिद्ध प्रेमकथा लिखी तो अज्ञात लेखकों में जेठवा-ऊजळी के सोरठे प्रसिद्ध हुए। कुशललाभ की ढोला-मारू चौपई भी मध्यकाल में काफी लोकप्रिय हुई। इन कथानको को लेकर मध्यकाल मे कई ख्याति-प्राप्त रचनाएं सामने आई है। 1527 मे गणपति कायस्थ ने 'माधवानल-कामकंदला प्रबंध' महाकाव्य शैली मे लिखा। इस ग्रंथ के आठ भाग है जिनमें 2565 दूहे है।

माधवानल-कामकंदला की कथा इस तरह है—राजा इन्द्र की रूप गर्विता अप्सरा जयन्ति को इन्द्र सभा मे अभिनीत नाटक मे अनुपस्थिति के कारण कुपित होकर इन्द्र ने श्राप दिया। परिणामस्वरूप वह पृथ्वी लोक की पुष्पावती नगरी मे शिलारूप में अवतरित हुई। उसका उद्धार अब इन्द्र के वचनानुसार माधव नामक ब्राह्मण कुमार के द्वारा पत्नी-रूप मे वरण से ही हो सकता था।

एक बार कैलाश पर्वत पर समाधिस्थ भगवान शंकर के मन में उद्भूत कामेच्छा के परिणामस्वरूप उनके रेतस् का स्खलन हो गया। विष्णु ने इससे पृथ्वी लोक में सम्भावित उत्पातो के निवारणार्थ स्खलित रेतस् को अंजली मे ग्रहण कर गंगा मे स्थित एक कमलनाल मे सुरक्षित रख दिया। इस कमलनाल से रेतस् के परिणामस्वरूप एक ओजस्वी बालक का जन्म हुआ।

गंगा तटवर्ती पुष्पावती नगरी के राजा गोविन्द चन्द्र का संतानहीन पुरोहित स्वप्न में भगवान शिव से प्रेरणा पाकर सपत्नीक गंगातट पर जाकर उस बालक को अपने घर ले आया। बालक का नाम 'माधवानल' रखा गया।

बारह वर्ष की अवस्था मे नदी तट पर क्रीडारत माधव के मित्रो ने शिला रूप में शापित अप्सरा जयन्ति से उसका विवाह करा दिया और वह इन्द्र के वरदान अनुसार शाप-मुक्त हो उड़कर इन्द्रलोक पहुँच गई।

माधव द्वारा उपकृत और विवाहित जयन्ति माधव के विरह में व्याकुल रहने लगी और छिप-छिप कर पृथ्वी लोक में आने लगी। भेद खुल जाने पर उसने आना बन्द कर दिया तो माधव स्वयं इन्द्रपुरी पहुँचने लगा। एक दिन इन्द्र सभा में आयोजित नाटक हेतु प्रस्थान के समय जयन्ति ने माधव को 'भ्रमर' बनाकर अपनी कंचुकी में छिपा लिया। नृत्य करती जयन्ति की मनःस्थिति से इन्द्र को जब जयन्ति की कंचुकी में भ्रमर रूप में माधव की उपस्थिति का ज्ञान हुआ तो उसने पुनः जयन्ति को पृथ्वी लोक में वेश्या के घर जन्म लेने का श्राप दिया। फलस्वरूप जयन्ति ने राजा कामसेन की नगरी कामावती में 'कामा' नामक वेश्या की पुत्री के रूप में जन्म लिया और उसका नाम 'कामकंदला' रखा गया।

इधर विरहातुर माधव के अतिशय रूप-सौन्दर्य और वीणावादन से आकर्षित पुष्पावती नगरी की युवतियाँ और अन्तःपुर की राज-महिषियाँ कामासक्त होने लगी। नागरिकों द्वारा शिकायत किए जाने पर राजा गोविन्द चन्द्र ने माधव को देश निकाला दे दिया। पुष्पावती से निष्कासित माधव इतस्ततः भ्रमण करता कामावती नगरी में पहुँचा। यहाँ के राजा कामसेन के दरबार में खेले जा रहे नाटक 'इन्द्र महोत्सव नाटक' में संगीत की विसंगतियों को सुना और अपना सिर धुनने लगा। पूछे जाने पर उसने स्वर भंग की बातें बताई। जब ये बातें राजा तक पहुँची तो राजा ने राज सभा में बुलाकर उसे सम्मानित किया। कामकंदला और माधव ने राज सभा में एक-दूसरे को देखा।

नृत्यरत कामकंदला को अपने कुच पर आ बैठे भवरे को पवन श्वास के बल पर उड़ाते देख माधव की स्मृति लौट आई। कंदला के कौशल पर मुग्ध हो उसने राजा द्वारा पुरस्कार में दी गई समस्त भेंट कंदला पर न्योछावर कर दी। राजा ने इसे अपना अपमान समझ कर उसे देश निकाला दे दिया। जब वह नगर छोड़ रहा था तो कामकंदला ने रात भर उसके साथ रहने का निवेदन किया। माधव ने उसकी बात स्वीकार कर ली। दोनों गहरे प्रेमपाश में डूब गए। माधव यहाँ से उज्जैन चला गया। कंदला के विरह से संतप्त माधव ने उज्जैन स्थित महाकाल शिव के मन्दिर में एक विरह गाथा दिवारों पर लिखकर छोड़ दी। सम्राट विक्रमादित्य ने इसे पढ़ा तो वे अत्यन्त दुःखी हुए। भोग विलासिनी नामक वेश्या की सहायता से राजा विक्रमादित्य ने गाथा-लेखक माधव की खोज करवाई और उसकी व्यथा का कारण ज्ञात किया। माधव के इस प्रेम की परीक्षा लेने के लिए राजा ने एक से एक बढ़कर रूप-सौन्दर्य गर्विता कामिनियाँ देने का प्रलोभन दिया, परन्तु जयन्ति के विरह में आतुर माधव ने उनकी उपेक्षा कर दी। प्रेम प्रसंग में माधव को खरा मानकर विक्रमादित्य ने कामावती नगरी के राजा को सन्देश भेजा और कंदला को देने की बात कही। जब राजा नही माना तो विक्रमादित्य ने कामावती पर चढ़ाई कर दी और कामसेन को पराजित कर काम कंदला को प्राप्त किया।

कदला के प्रेम की परीक्षा करने हेतु विक्रमादित्य ने उसके पास माधव की मृत्यु की मिथ्या सूचना पहुँचाई, जिसे सुनते ही कंदला के प्राण-पखेरू उड गए। कदला की मृत्यु की सूचना पाकर यही दशा माधव की हुई। विक्रमादित्य ने अपने मित्र वेताल की सहायता से पाताल लोक से अमृत प्राप्त कर दोनों को पुनर्जीवित किया। विक्रमादित्य के आदेश से कामसेन ने कदला माधव को भेंट कर दी। इस प्रकार अपनी प्रियतमा को प्राप्त कर माधव पुष्पावती लौट आया।

माधवानल-कामकंदला प्रबंध में नायक-नायिका के शृंगार का काफी विस्तृत वर्णन हुआ है। शृंगार, सयोग और वियोग इस ग्रन्थ की विशेषताएँ है। छठे भाग मे कामकदला के वियोग का वर्णन काफी सशक्त ढग से हुआ है। इस ग्रन्थ की भाषा मारु-गुर्जर है।

कुशल लाभ ने 'माधवानल-कामकंदला चोपई' इसी कथानक पर लिखी है। कुशललाभ की भाषा सरल राजस्थानी है। कहीं-कही सस्कृत के शब्द भी आए है। गणपति कायस्थ की कथा ही कुशललाभ ने अपनाई है। परन्तु कुशल लाभ ने अपने लेखन मे मौलिकता को प्रदर्शित किया है।

इसी कथानक पर 793 दूहो की दामोदर की 'माधवानल कथा' नामक कृति भी मिलती है। इसका रचना काल 17वी शताब्दी का प्रथम अर्द्ध भाग है।

ढोला मारू रा दूहा—'ढोला मारू रा दूहा' एक श्रेष्ठ प्रेम काव्य है। इसकी रचना 15वी शताब्दी के मध्य मे हुई है। कवि का नाम अज्ञात है। इसकी कथा इस तरह है—किसी समय पूगल देश मे पिंगल नाम का कोई राजा राज्य करता था। उसी वक्त नरवर पर नल नामक राजा का राज्य था। पिंगल के एक कन्या थी। उसका नाम मारवणी था और नल के बेटे का नाम ढोला था। एक बार पूगल मे भारी अकाल पडा तो राजा पिंगल कुछ दिनो के लिए पुष्कर चले गए। इन्ही दिनो राजा नल भी तीर्थ यात्रा करता हुआ पुष्कर पहुँचा। यहाँ पर दोनो मिले तो उनमे मित्रता हो गई और पिंगल ने अपनी बेटी मारवणी का विवाह नल के बेटे ढोला से कर दिया। इस वक्त ढोला की उम्र तीन वर्ष और मारवणी सिर्फ डेढ वर्ष क थी। इसी वजह से उसे ढोला के साथ नरवर नही भेजा। कई वर्ष बीत गए। ढोला जवान हुआ। उधर नरवर मे पूगल काफी दूर था। अत. नल ने ढोला का दूसरा विवाह मालवे के राजा की बेटी मालवणी से कर दिया। ढोला को अपने पहले विवाह के बारे मे कुछ पता न था। और उससे यह बात छुपाई भी गई।

इधर जब मारवणी जवान हुई तो पिंगल ने ढोला को बुलाने के लिए सदेश वाहक भेजा परन्तु मालवणी ने पूगल और नरवर के मार्गों के बीच ऐसे प्रबन्ध कर रखे थे कि कोई दूत ढोला तक पहुँच ही न सके।

एक रात मारवणी को ढोला स्वप्न मे दिखाई दिया। इससे तो उसकी विरह वेदना दुगुनी हो गई। इसी वक्त नरवर की तरफ से एक घोडो का व्यापारी पूगल आया। उसने ढोला के दूसरे विवाह की बात पिंगल को बताई। जब इस बात का पता मारवणी को चला तो उसकी हालत पागल जैसी हो गई। उसने ढाढ़ियो को प्रेम-संदेश देकर ढोला के पास भेजा जो मारवणी के आदमियो को छलकर कैसे ही ढोला तक पहुँच गए। वहाँ तमाम रात उन्होंने अपनी सुरीली और दर्द भरी आवाज से गा-गा कर मारवणी का प्रेम-सदेशा ढोला को सुनाया। यह सुन ढोला मारवणी से मिलने के लिए आतुर हो उठा। एक दिन ढोला घोड़े पर सवार हो मारवणी से मिलने के लिए जाने लगा तो मालवणी को पता चल गया। उसने भाग कर घोड़े की लगाम पकड ली। उस दिन तो वह वापस मुड गया, परन्तु कुछ दिनों बाद एक रात मालवणी को निद्रा मे सोई छोड चुपके से ऊँट लेकर पूगल की तरफ चल पडा। कुछ दिनो बाद ढोला पूगल पहुँचा तो वहां उसके बहुत लाड-चाव और आदर-सत्कार हुआ। पांच-सात दिन यहाँ रहकर वह मारवणी को लेकर नरवर के लिए रवाना हुआ। रास्ते में वह एक जगह ठहरा तो वहाँ मारवणी को एक सांप ने काट खाया जिससे उसकी मृत्यु हो गई। ढोला विलाप कर उसकी चित्ता के साथ जलने को तैयार हो गया। इतने में जोगी-जोगिन के वेश में शिव-पार्वती प्रकट हुए। उन्होने मारवणी को जीवन-दान दिया।

यहां से आगे चले तो एक और घटना घटी। ऊमर नामक एक आदमी ने मारवणी को छीनने हेतु अपने दल बल सहित उनका पीछा किया। उसने अपना घोडा ढोला के पास लाकर उसे अपने कपट-जाल मे फसा लिया। और पानी में मिली अफीम (कसूंबा) पिलाने लगा। मारवणी ऊँट की मुहरी पकडे एक तरफ खडी थी।

ऊमर के साथ मारवणी के पीहर की एक ढोलन थी। उसने गा-गा कर ऊमर के कपट-जाल की बात मारवणी को सुनाई। यह सुन मारवणी ने अपने ऊँट को छडी मारी और ऊँट हडबडा कर उछलने लगा। ढोला ऊँट को सभालने हेतु मारवणी के पास आया तो मारवणी ने सारी बात ढोला को बता दी। ढोला यह सुन कर मारवणी को ऊँट पर बैठा निकल भागा। ऊमर ने उनका पीछा किया परन्तु वे उसके हाथ नही आए, हारकर उसे वापस मुड़ना पड़ा और ढोला मारवणी को ले कर अपने महलो मे आ गया और वे सुख से रहने लगे।

कवि ने इस कथा को बडे ही कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया है। जैसे पजाब में हीर-रांझे की कहानी घर-घर में प्रसिद्ध है वैसे ही ढोला-मारू राजस्थान के लोगों के गले का हार है। यह रचना राजस्थानी के आरम्भ काल की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके कुछ पद्य नीचे प्रस्तुत किए जा रहे है—

वावहियो नै विरहणी, दुहुवा एक सुभाव।
जब हा वरसै घण घणो, तब ही कहै प्रि-प्राव ॥

पपीहे और विरहिन का साम्य अवलोकनीय है—

विज्जुळियाँ नीळज्जियाँ, जळहर तूं ही लज्जि।
सूती सेज विदेस प्रिय, मधुरै-मधुरै गज्जि॥
राति सखि इण ताळ मइ, काइज कुरळि पंखि।
उवै सरि हूं घर आपणै, बिहूं न मेळि अंखि॥
पंथि हाथ संदेसडो, धण विळळंति देह।
पग सूं काढै लीहटी, उर आंसुवा भरेह॥
अकथ कहाणी प्रेम की, किण सूं कही न जाय।
गूंगा का सुपना भया, सुमर-सुमर पिछताइ॥
चंदा तो किण खडियो, मो खंडी किरतार।
पूनिम पूरो ऊगसी, आवंतै अवतार॥

'ढोला मारू रा दूहा' एक भावनात्मक प्रेम काव्य है जिसमे विरह प्रधान रूप से चित्रित हुआ है। मारवणी द्वारा विरह संदेश मानवीय दूत ढाढी और प्रकृति दूत बादलों और पक्षियों द्वारा भेजा जाना इन दोहों में बड़ी भव्यता से चित्रित हुआ है। यह प्रेम काव्य में एक अनूठी काव्य रचना है।

ढोला मारवणी चौपई—कुशललाभ ने कुछ परिवर्तित ढंग से ढोला-मारवणी की कथा को अपनी 'चोपई' मे लिखा है। उन्होने मारवणी का जन्म रानी उमा देवडी से अपनी कथा में बताया है, राजा नल से मिलने का प्रसंग खरगोश का पीछा करते वक्त बताया है। तथा विवाह के साक्षी रूप में पुष्कर सरोवर में एक शिलालेख स्थापित करने की बात का भी उल्लेख किया है। 'भाऊ भाट' के माध्यम से ढोला से मिलने का जिक्र किया गया है, तथा ढोला-मरवण को पनघट पर मिलाया है। ऐसे ही कुछ परिवर्तन के साथ आगे की कथा कही गई है।

जेठवा-ऊजळी—जेठवा-ऊजली की कथा अपने किस्म की संभवतः विश्व मे एक ही है। इस कथा पर 100 के लगभग पद्य मिलते है, जो लोक में 'जेठवै रा सोरठा' (दूहा) नाम से जाने जाते है। ये ऊजली द्वारा अपने प्रियतम जेठवे को सम्बोधित है। ये सोरठे 17वी शताब्दी और उसके बाद की हस्तप्रतियों मे बिखरे हुए हैं। मूल सोरठों की रचना 1500 ई. के आस-पास हुयी है। जेठवे-ऊजली की कथा इस तरह है—

राजकुमार जेठवा एक बार शिकार करने हेतु गया। मेह-आँधी मे वह रास्ता भूल गया और तूफान की वजह से वह बेसुध हो गया। उसका घोडा उसे एक चारण जिसका नाम अमरा था, के झोपडे के पास ले आया। अमरा की बेटी ने राजकुमार को होश मे लाने हेतु बहुत प्रयत्न किए परन्तु उसे होश नही आया। अमरा बहुत गरीब था। उसके पास राजकुमार जेठवा को ठंड से बचाने हेतु पर्याप्त कपड़े भी नही थे। इसलिए उसने अपनी बेटी से कहा कि यह

अपना मेहमान है, इसको बचाना अपना धर्म है। इसलिए अपने शरीर से गर्मी दे ताकि इसके प्राण बच सकें। अमरा ने अपनी युवा बेटी से कहा कि हो सकता है, यह युवक अपनी जाति का ही निकल आए और उससे तुम्हारा विवाह भी कर दूँ। अपने पिता की आज्ञा मानकर ऊजली ने उसे अपने गरम बदन की आंच दी तो जेठवा को होश आया। जेठवा ने ऊजली को आश्वासन दिया कि वह उससे शादी कर लेगा। ऊजली ने जेठवे का आश्वासन मान लिया और वे एक-दूसरे को प्रेम करने लगे। परन्तु जब जेठवे को पता लगा कि ऊजली चारण की बेटी है तो वह बदल गया। क्योंकि लोक परम्परा के अनुसार राजपूतों एवं चारणों में शादी सम्बन्ध नहीं हो सकते। जेठवा ने ऊजली से विवाह का विचार बदल दिया और वह अपने महलों में वापस आ गया। ऊजली इसके पश्चात् उससे मिल न सकी। ऊजली के पद्य उसके विरह को कई ढंग में व्यक्त करते है। सोरठों में ऊजली की विरह-व्यथा है। कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते है—

अंगूठै री आळ, लोभी लगाई गयो।
रूनी सारी रात, जक न पडी रे जेठवा॥
ओळ्या उणियारो, लिपट नही न्यारो हुवै।
प्रीतम मो प्यारो, जोनी फिरू रे जेठवा॥
मोरा मन मानै, झड सोरा आवै जठै।
जिवड़ो मो जावै, जाऊं किण दिस जेठवा॥

इन सोरठों के रचनाकार का नाम अज्ञात है परन्तु इनमें उच्चस्तरीय विरह-वेदना साहित्यिक ढंग से चित्रित हुई है। दोहों की भाषा सरल राजस्थानी है।

सैणी बीजाणंद—सैणी बीजाणंद के 80 के लगभग पद्य अट्ठारहवीं शताब्दी और उसके बाद की पाडुलिपियों में मिलते है। परन्तु इनकी रचनाएँ सम्भवतः 16वीं शताब्दी में हुई प्रतीत होती है। सैणी-बीजाणंद की कथा इस तरह है—

बीजाणंद एक गरीब चारण था। बहुत अच्छी वीणा बजाता। सैणी एक धनवान चारण वेदा की बेटी थी। वह बीजाणंद से वीणा सुनने उसके पास आती। धीरे-धीरे दोनों में प्रेम बढने लगा। बीजाणंद मन से सैणी को अपना चुका था और सैणी बीजाणंद को। बीजाणंद ने एक दिन दोनों के विवाह की बात सैणी के पिता के सामने चलाई। परन्तु सैणी के पिता को यह शादी पसन्द नही थी। उसने शादी के लिए एक ऐसी शर्त रखी जो बहुत ही मुश्किल से पूरी होती। शर्त थी—बीजाणंद 101 भैंसे ऐसी लाकर देगा जिनके काले शरीर पर चोट जैसे सफेद-सफेद चकत्ते हो, ऐसी भैंस वह एक वर्ष के भीतर लाकर देगा।

बीजाणंद यह शर्त निश्चित अवधि में पूरा नहीं कर सका और शादी की बात टल गई। परन्तु सैणी ने बीजाणंद के सिवाय अन्य किसी से विवाह न

करने की शपथ ले ली थी। जब वीजाणंद निश्चित अवधि में नहीं आया तो वह निराश होकर हिमालय की तरफ चली गई। उसने यह निश्चय कर लिया था कि वह हिमालय में जमकर मर जाएगी। वीजाणंद को जब इस बात का पता चला तो वह हिमालय की तरफ भागा। जब वीजाणंद हिमालय पहुँचा तो सैणी मृत्यु की अन्तिम घडियाँ गिन रही थी। उसने उसे वापस चलने को कहा परन्तु सैणी नहीं मानी। उसने वीजाणंद से अर्ज की कि जब तक उसकी सासें शरीर से न निकले वो वीणा बजाये। वीजाणंद ने ऐसा ही किया। उसने पल-पल सासें छोड़ती सैणी को देखा और पागल हो गया। फिर वह अधिक दिन नहीं जी सका।

नागजी-नागवंती—18वीं शताब्दी और उसके बाद की हस्त प्रतियों में इस कथा से सम्बंधित 50 के लगभग पद्य मिलते हैं। मूल पद्य सम्भवत: 16वीं शताब्दी के बाद के हैं। कथा सार इस तरह है—नागजी नागमती से प्रेम करते थे। परन्तु नागमती के भाई ने उसका चुपके से विवाह रचा दिया। नागमती के पिता को इस बात का ज्ञान नहीं था। अतः उसने एक ऐसे व्यक्ति से उसका विवाह कर डाला जिसे वह एक दफा अस्वीकार कर चुकी थी। नागजी नागमती से मिले तो उन्हें उसके दूसरे विवाह का बहुत दुःख हुआ। नागजी से बात सहन नहीं हुई और उन्होंने आत्महत्या कर ली। नागमती नागजी को ढूंढ रही थी, तलाश में फिरती-फिरती नागमती ने नागजी को मरे हुए को ढूंढ लिया। वह बहुत निराश हुई। घर पहुँच वह अपने पति को छोड़ अपने पीहर की तरफ चल पड़ी। रास्ते में उसने नागजी की मृत देह को श्मशान भूमि में जलते हुए देख लिया। वह गाड़ी से उतर 'दाग अगन' में कूद पड़ी।

पद्यों में नागजी की मृत-देह, नागमती की निराशा, अश्रुयुक्त उसका दु:ख आदि का भावनापूर्ण वर्णन मिलता है।

बीझा सोरठ—1661 में रचित हस्त प्रतियों में बीझा-सोरठ की कथा के 41 पद्य मिले हैं और बाद में मिली पाण्डुलिपियों में 76 पद्य। मूल छन्दों की रचना सम्भवत: 16वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है। प्राचीन दोहों से यह कथा निकलती है। सोरठ का वास्तविक नाम सोनल था। राव खेंगार ने बीझा और सोनल को प्रेमपाश में बँधे देखा परन्तु अपना क्रोध दबाया तथा दोनों को वस्त्र से ढक दिया। इस कथा के और भी कई प्रकार हैं। राजस्थान में प्रचलित यह ख्याति प्राप्त कथा इस तरह है—सोरठ एक अति सुन्दर औरत थी जो प्रथम दफा एक धनवान राजारूड को ब्याही थी। गिरनार का राजा खेंगार सोरठ की सुन्दरता पर मुग्ध था और वह उससे शादी करना चाहता था; उसने राजारूड को एक बार जुआ खेलने के लिए बुलाया। जुए में राजा रूड़ हारने लगा और उसने अन्त में सोरठ को भी दांव पर लगा दिया। इस तरह वह सोरठ सहित सब कुछ हार गया।

बीभा राव खेंगार का सम्बन्धी था। वह भी सोरठ की-सुन्दरता पर मुग्ध था। राव खेंगार ने उसे ही सोरठ को लाने भेजा था। और इस दौरान वह उसके प्रेम में फंस गया। सोरठ महलों में रहती परन्तु बीभा गुप्त रूप से उससे मिलता रहता। एक दिन खेंगार ने उन्हें प्रेमपाश में बंधे देख लिया। खेंगार ने बीभा को देश निकाला दे दिया। बीभा ने पाटण के नवाब से सहायता मांगी। युद्ध हुआ और युद्ध में राव खेंगार काम आया। परन्तु बीभा सोरठ को प्राप्त नहीं कर सका। सोरठ को नवाब ले गया। बीभा सोरठ के बिना रह न सका और मर गया। सोरठ को बीभा की मृत्यु का पता चला तो वह कैसे ही बीभा के दाग में आ गई और दाग-अग्नि में जल कर अपने प्राण त्याग दिए कि अगले जन्म में मिलेंगे।

जलाल-बूबना—16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध या फिर 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लिखे पद्य मिलते है, जिनमें यह कथा आई है। यह एक ऐसे प्रेमी-प्रेमिका की कहानी है जिसमें काजी की काली करतूत का दर्द भरा हुआ है। काजी ने उन्हें शादी सम्बन्ध में तो नहीं मिलने दिया परन्तु यह युगल-जोड़ी गुप्त रूप से मिलती रही परन्तु दोनो साथ न रह सके।

बूबना और मूमना दो बहिनें थी। जलाल बूबना से प्रेम करता था और उसी से शादी करना चाहता था। परन्तु जब विवाह की घड़ी आई तो काजी ने घूंस खाकर बूबना का विवाह जलाल से न करवाकर उसकी बहिन मूमना से करवा दिया। इस धोखे का पता निकाह होने के बाद चला। परन्तु उनका प्रेम कभी कम न हुआ। काजी ने उन्हें शादी बन्धन में नहीं बंधने दिया और वे बिना शादी के ही मृत्यु को प्राप्त हुए।

लोक प्रचलित कथा का अन्त बहुत दर्द भरा है। परन्तु लिखी हुई कथा में शिव-पार्वती उन दोनों को वापस जिन्दा कर देते हैं। मुस्लिम प्रेमी-प्रेमिका को शिव-पार्वती द्वारा जीवन-दान से ज्ञात होता है कि उस वक्त हिन्दू-मुसलमानों में काफी सद्भाव था।

छंद शास्त्र

राजस्थानी साहित्य के मध्यकाल में छंद शास्त्र के भी कई ग्रंथ लिखे गए। छंद शास्त्र पर प्रारम्भिक रचना कुशललाभ रचित 'पिंगल-सिरोमणी' मिलती है। 1664 में चारण जोगीदान ने 'हरि-पिंगल-प्रबन्ध' की रचना की। चारण हमीरदान रतनू ने 'पिंगल-प्रकास', 'लखपत पिंगल' और 'हमीर नांममाला' अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखी। 1806 में मंछाराम ने 'रघुनाथ रूपक' लिखा। आढ़ा किसना का लिखा 'रघुवर जस प्रकास' मिलता है। उन्होंने 1822 में 'भीम प्रकास' की रचना की। उदयराज की 'कवि कुलबोध' इसी परम्परा की उल्लेखनीय कृति है।

कविराजा मुरारिदान का 'डिंगलकोश', हिंगळाज दान कविया रचि 'प्रत्यय पयोधर', सावळदान आसिया का 'महाभारत-रूपक' और नागराज क 'डिंगलकोश' आदि इस काल की प्रमुख रचनाएँ हैं।

गद्य साहित्य

चौदहवी शताब्दी से राजस्थानी मे गद्य-रचना की परम्परा स्पष्ट रूप से सामने आती है। 1421 मे माणिक्यचन्द्रसूरि ने 'पृथ्वीचन्द चरित (वाग्विलास) लिखा। इस में बहुत ही सुन्दर कथात्मक वर्णन मिलता है। इसमें पृथ्वीराज के चरित्र की अपेक्षा उसका वाग्विलास रूप चमत्कारिक वर्णनो की प्रधानता सहित होने के कारण ही इसके रचयिता ने इस कृति का नाम वाग्विलास रखा है। यह ग्रंथ तुकान्त गद्य में लिखा हुआ है। इसके गद्य की बानगी नीचे द्रष्टव्य है—

"जिण देसि ग्राम अत्यन्त अभिराम। भलां नगर जिहा न मागीयइ कर। दुग्ग जिसा हुई स्वरग। धान्य न निपजइ सामान्य। सागर सोना रूपा तणा सागर। जेइ देस माहि नदी वही इ, लोक सुखइनिरवहई"

इसी तरह जीतमालजी तेरापंथी आचार्य (तेरापंथ के चौथे आचार्य) बहुत प्रभावी लेखक हुए है। उन्होने बडी संख्या में कथाएँ लिखी है।

'अचलदास खीची री वचनिका' 1430 और 1435 के मध्य किसी समय लिखी गई है, इसमें गद्य बहुत सशक्त एवं सुन्दर है।

मध्यकाल में ऐतिहासिक गद्य प्रचुर मात्रा मे लिखा गया। वंशावली, पीढ़ियावली, पट्टावली, ख्यात, बात, विगत, हकीगत, हाल, वचनिका, दवावैत और कई प्रकार है जिनमें ऐतिहासिक गद्य के नमूने मिलते है। मारवाड के परगनो की विगत, मुंहता नैणसी री ख्यात, ऐतिहासिक कृतियों में उल्लेखनीय कृतियां है। शिवदास गाडण रचित 'अचलदास खीची री वचनिका', खिडिया जग्गा रचित 'वचनिका राठौड़ रतनसिंह महेसदासोत री', जती जयचन्द रचित 'माताजी री वचनिका' महत्वपूर्ण वचनिकाएँ है। 'दवावैत नरसिंह गौड़ री', माली-राम भाट द्वारा लिखित, द्वारकादास रचित 'महाराजा अजीत सिंह की दवावैत' मुख्य दवावैत है। ख्यातों में मुंहता नैणसी, बाकीदास आसिया, सिंढायच दयालदास के नाम उल्लेखनीय है। अन्य ऐतिहासिक ग्रंथो में दलपत विलास प्रमुख है जिसकी रचना 1600 के लगभग हुई है।

राजस्थानी का बात साहित्य बडा वैभवशाली और विशाल है। हरराज नैणसी री बात, महाराजा पदमसिंह री बात, कंवर रणमल री बात, राजा भीम री बात, अकाल री बात, रामदे तंवर री बात आदि बातों में उल्लेखनीय बात है। मुख्य बातो के नायक ऐतिहासिक, अर्द्ध ऐतिहासिक और काल्पनिक रहे हैं।

राजाभोज और खापरिये चोर की वार्ते काल्पनिक वातो के उदाहरण है। वात शैली वडी दिलचस्प, विवरणात्मक और वर्णनात्मक है।

मध्यकालीन राजस्थानी गद्य अपनी समकालीन गद्य शैली में लिखा जाता रहा और समृद्ध बना। राजस्थानी मे नई विधाएँ अँग्रेजो के सम्पर्क से शुरु होनी है और कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि लिखे जाने शुरू होने है।

लोक साहित्य

राजस्थानी का लोक साहित्य बहुत समृद्ध है। इसे निम्न भागो में बाँटा जा सकता है : लोकगीत, लोकगाथा, लोकनाट्य और लोक सुभाषित। लोकगीतो मे जहाँ सबद और भजनों (हरजस) में गोरखनाथ, भर्तरी, कबीर, हरजी भाटी, रूपादें, मीरा, चन्द्र सखि की रचनाएँ गूँजती है वहाँ जैनगिरि लिखमो जी माली, वगसोजी खाती के पद्य लोक कंठो मे रम गए है। गोगाजी और पाबूजी के लोकगीत लोक-स्वरो मे रमे हुए है। लोकगीतो मे मीरा लोक जीवन मे रची-बसी है। बनडा, जवांई, ओळू, जलो, घोड़ी, गणगोर, भात और रतजगे के गीत जहाँ राजस्थानी औरतो के गले के हार बने है वहाँ धमाल, गोरबद, पनिहारी, विणजारो बहुत ख्यातिप्राप्त है। वर्षा के दिनों में तीज के गीत गाये जाते है तो 'सपना' भी गुनगुनाया जाता है। मूमल, घूघरी आदि बहुत प्रतिष्ठित हुए है। 'लोकगीतो पर नरोत्तम स्वामी, ठाकुर रामसिंह, सूर्य करण पारीक, डॉ. मनोहर शर्मा आदि विद्वानो ने बहुत ही उल्लेखनीय कार्य किया है। गणपति स्वामी, लक्ष्मी कुमारी चूंडावत, स्वर्णलता, अग्रवाल आदि ने लोक गीतों का अध्ययन कर सराहनीय कार्य किया है।

लोककथाओ में वीरता की कथा, रोमान्टिक कथाएँ, पौराणिक कथा, ऐतिहासिक कथा और प्रेम आदि की कथाएँ मिलती है। 'पाबूजी रा पवाड़ा' आज भी भोपो के मुँह से मुखरित होते हैं। उनकी ऊँची आवाज कानो मे सुनाई देने लग जाती है। भोपियो के मीठे गले बोल उठते है। ऐसे ही 'तेजा' किसान के मुँह अच्छा लगता है। हल चलाता किसान, निनान करती किरसनियाँ के मुँह से निकलती 'तेजा' की सुरीली धुन मन मोह लेती है। 'डूंगजी-जवारजी' शेखावाटी क्षेत्र मे लोक जीवन में रमा हुआ है। 'वगड़ावत देवलीला काव्य', 'निहालदे सुल्तान' रोमान्टिक लोक साहित्य के उदाहरण हैं। रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत ने देवनारायण बगडावत की कथा का सम्पादन किया है। पौराणिक गाथाओं में आवारास, द्रुपद पुराण, भीमो भारत आदि प्रमुख है। ये कथाएँ पौराणिक घटनाओं पर आधारित है। ये कथाएँ क्रमशः ऋषि दुर्वासा, द्रौपदी चीरहरण और महाभारत के पात्र भीम और अभिमन्यु पर आधारित है। 'नरसो रो माहेरो' श्रीकृष्ण द्वारा नानी वाई के भात भरने की वात को ताजा कर देता है। लोक में यह बहुत लोकप्रिय है। गोपीचन्द भर्तरी की गाथा राजस्थान मे अत्यन्त लोकप्रिय है।

लोककथा जिसे वात कहा जाता है, ने आधुनिक कई रचनाकारों को आकर्षित किया है। विजयदान देथा ने 'वातारी फुलवाड़ी' में लोक-कथाओं का ही संग्रह किया है। गोविन्द अग्रवाल ने भी लघु लोककथाओं का संकलन प्रकाशित करवाया है। रानी लक्ष्मी कुमारी चूंडावत ने लोक कथाओं को फिर से कहा है। 'हूँकारो दो सा', 'टावरां री वातां' लोककथाओं के संग्रह हैं। डॉ. मनोहर शर्मा, मूलचन्द 'प्राणेश', नानूराम संस्कर्ता, देवकिशन राजपुरोहित ने भी लोककथाओं के संकलन तैयार किए हैं। आधुनिककाल के कई कथाकारों ने अपनी कई कहानियों के कथानक लोककथाओं पर आधारित किए हैं।

लोकनाट्य में ख्याल बहुत लोकप्रिय है। शेखावाटी के 'दुल्हो' और 'नानूराणो' ने ख्यालों में बहुत नाम कमाया है। स्वांग और लीलाएँ भी लोकनाट्यों में ही गिने जाते हैं।

लोक साहित्य में कहावतें, ओखाणों और 'कंवत' आदि भी प्रमुख स्थान रखते हैं। अगरचन्द नाहटा, नरोत्तम स्वामी, डॉ. कन्हैयालाल सहल और गोविन्द अग्रवाल आदि विद्वानों ने इन पर उल्लेखनीय कार्य किया है। कहावत कोश प्रकाशित हुए हैं। गोविन्द अग्रवाल ने अपने कहावत कोश में इनसे सम्बन्धित लघु कथाएँ भी दी हैं। लोक प्रवाद में लोकहित भरा है और हास्य आया है। लोक सुभाषितों में लोक व्यवहार की बातें कही गई हैं।

इस तरह राजस्थानी साहित्य की डोर आश्रयदाताओं के बडे बोलों से निकलती, जनता को जोडती, आख्यान काव्य और संत साहित्य के मनियों से निकलती लोक साहित्य को पिरोती है। लोकगीत, लोककथाओं से निकलती हुई आधुनिक सृजन को पिरोने हेतु अपना सिरा आधुनिक रचनाकारों के हाथ में थमा, मध्यकाल को प्रणाम कर आधुनिक काल के दरवाजे खटखटाती है। परन्तु अपना कदम आगे बढ़ाने से पहले मध्यकाल का मूल्यांकन कर लेना उचित प्रतीत होता है।

मध्यकालीन राजस्थानी साहित्यः प्रवाह और प्रवृत्तियाँ

मध्यकाल के अध्ययन के पश्चात् समूचे साहित्य पर एक नजर डाल कर देखें तो प्रथम तो हमें यह बात दिखाई पड़ेगी कि इस काल में राजस्थानी 'मारु-गुर्जर' से अलग होकर अपने सुन्दर स्वरूप में सामने आती है, और राजस्थान की राजभाषा बनती है। इस काल में गद्य और पद्य दोनों उन्नत प्रकृति के लिखे जाते हैं। चूंकि इस काल में भक्तिकाल भी समाहित है अतः विपुल मात्रा में संत साहित्य सामने आता है। आख्यात् काव्य लिखे जाते हैं और वे अपनी एक पहचान बनाते हैं। इस काल के रचनाकारों में "प्रकास', 'विलास' 'रासौ' आदि शीर्षकों में अपनी रचनाओं को रखने की प्रवृत्ति भी बखूबी देखी जाती है।

वचनिका शैली आरम्भकाल मे शुरू हुई, वह मध्यकाल में प्रवाहमान रही। अचलदास खीची की वचनिका से कई चारण कवि प्रभावित हुए। उन्होने मध्यकाल में इस विधा को अपनाकर गद्य और पद्य मिश्रित रचनाएँ इसी शैली मे लिखी। खड़िया जग्गा ने वचनिका लिखी जिसमे उन्होने इसी शैली को अपनाया। उनकी लिखी वचनिका 'वचनिका राठौड़ रतनसिंह महेशदासोत री' मध्यकाल की एक प्रमुख कृति बनी। इस तरह जती जयचन्द ने 'माताजी री वचनिका' लिखी। धार्मिक पुट के साथ इसमें उन्होने माताजी का वर्णन किया। ऐसे ही हमीरदान रतनू ने 'देसलजी री वचनिका' लिखी। इसमे 1728 मे हुए देसलजी और बुलंदखाँ के बीच हुए युद्ध का वर्णन हुआ है। इन वचनिकाओ ने मध्यकाल में पद्य के साथ गद्य के प्रवाह को निरन्तर बनाए रखा है।

मध्यकाल मे एक प्रवृत्ति और देखने को मिलती है, वह यह कि इस काल में रचनाकारो मे 'छन्द' नाम से अपनी रचनाओ के शीर्षक रखने का दिलचस्प चाव रहा है। इस प्रवृत्ति के बल पर राजस्थानी साहित्य में कई उत्कृष्ट रचनाएँ आई है। 'रणमल छन्द' और 'छन्द राव जेतसी रो' आदि प्रसिद्ध रचनाएँ इस प्रवृत्ति मे सामने आई है। 'रणमलछन्द' की रचना 'पसाइत' ने की तो राव जेतसी के छन्द का रचनाकार 'सूजोजी' को बताया जाता है। कवि ने इस ग्रन्थ में राव जेतसी के पूर्वज राव चूंडा, रणमल, जोधाजी, विकोजी, लूणकरण की प्राप्तियो का वर्णन किया है और तत्पश्चात् जेतसी का। भटनेर जीतकर कामरान जब बीकानेर पर चढ़ाई करता है तो जेतसी अपने विश्वासी लेफ्टीनेंट को किला सौंप कर किले मे बाहर आ जाता है और आक्रमण की तैयारी करता है। रात के वक्त राव जेतसी कामरान की सेना पर आक्रमण करता है और विजय प्राप्त करता है। परन्तु इस कृति के रचयिता के नाम पर अभी भी मतभेद है। कई विद्वान आज भी सूजोजी को राव जेतसी के छंद का रचयिता नही मानते। परन्तु ऐसी प्रवृत्ति मध्यकाल मे चलती रही। चारण कवि नायक की वीरता, उसकी विजय, उसकी उपलब्धियो को लेकर इस तरह की रचनाएँ करते रहे है। 'राव माला रो गुण' ग्रन्थ भी इसी प्रवृत्ति पर आधारित है। बारठ आसोजी इस ग्रन्थ के रचयिता है। इस ग्रन्थ मे राव मल्लीनाथ के अठारहवे उत्तराधिकारी मेघराज की वीरता का वर्णन है। बीठू मेहोजी ने 'पाबूजी रो छन्द' इसी शैली पर लिखा। मेहोजी का 'भाटी सोमसी रतनावत रो छन्द' भी लिखा मिलता है। केसोदास गाडण रचित 'छन्द महादेवी रा' दूसरी तरह का ग्रन्थ है। इसकी रचना 1583 और 1644 के मध्य हुई प्रतीत होती है।

आरम्भकाल मे 'वेलि' परम्परा शुरू हुई वह मध्यकाल मे काफी फली-फूली। 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' इस काल की ख्याति प्राप्त वेलि है। इसी

तरह 'आई माता री वेल', 'चिहूँगति री वेलि', 'जम्बूस्वामी री वेलि', 'गरभ वेलि,' 'वोध वेलि' छीहल कृत वेलि, भरत वेलि आदि कई वेलि 16वी शताब्दी में रची गई। बीठू मेहोजो ने 'चूंडाजी री वेल' लिखी। ऐसे ही 'राठौड़ रतनसिंह री वेलि' दूदोजी की लिखी मिलती है। इसमे रतनसिंह और कुलीखां के बीच हुए युद्ध का वर्णन हुआ है। कल्याणदास ने जहाँगीर और बूंदी के राव रतन के युद्ध का वर्णन करते हुए 'राव रतन री वेलि' लिखी। 'क्रिसन री वेलि' सांखालो करम सी रूणेचा ने 1540 के आस-पास रुकमणी के रूप का वर्णन करते हुए बहुत ही सुन्दर तरीके से इस वेलि की रचना की। 16वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे किसनोजी रचित 'महादेव पारवती री वेलि' मिलती है। इसमें गगावतरण और महादेव पार्वती के विवाह का प्रसंग आया है। इस तरह से वेलि साहित्य ने अपनी छाप अपने युग पर छोड भारतीय साहित्य मे अपना प्रमुख-स्थान बनाया है।

'रासौ' साहित्य मध्यकाल मे अपनी विशिष्टता अंकित करता प्रतीत होता है। 'पृथ्वीराज रासो' के अतिरिक्त खुमाण रासौ, राम रासौ, बुद्धि रासौ जैसे ग्रन्थ लिखे जाते है तो इसी रासो साहित्य में 'सिह वानर रासौ' जैसी बाल साहित्य की रचना सामने आती है। गिरधर आसियाँ (1633-1718) 'सगत रासौ' लिखता है। इसमे वह राणा प्रताप के छोटे भाई शक्तिसिंह की वीरता का वर्णन करता है। उसके पुत्र अचलसिंह और प्रपौत्र नरहरि की वीरता का वर्णन भी कवि ने इस रासौ मे किया है। 'रामरासौ' माधोदास दधवड़िया (1533-1621) का 1034 पद्यो का बडा ग्रन्थ है। ऐसे ही मुंहता रघुनाथ ने वाल्मीकि रामायण की कथा पर आधारित कर 'रुघरासौ' लिखा। पीरदान ने (18 वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे) 'हिंगळाज रासौ' लिखा। दलपत विजय (1643 1743) ने 'खुमाण रासौ' रचा। यह ग्रन्थ 1712 के आस-पास लिखा गया। इसमें मेवाड का इतिहास है। बप्पा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक और खुमाण पर स्वतन्त्र कविताएँ है। इसमे 3576 पद्य हैं। ग्रन्थ आठ भागो मे बँटा हुआ है। इसमें खुमाण और पद्मावती की कथा कविता के बहुत ही सशक्त रूप में कही गई है। यह ग्रन्थ अपने युग की प्रतिनिधि रचना है। महेश दास राव जो अर्जुन गौड़ (शाहजहाँ का विश्वासी अधिकारी) का आश्रित था, ने 17वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे 'विन्हाय रासौ' की रचना की। इसमे गौड वीरो का विस्तृत वर्णन हुआ है। कुम्भाराम सादू ने 'रतन रासौ' और 'जयचन्द रासौ' रचे। ये दोनो ग्रंथ क्रमश: 1663 एवं 1723 के आस-पास रचे गए। तत्कालीन वीरो का वर्णन इसमे गीत और दूहों मे किया गया है। कड़िया करणीदान (1693-1783) ने 'छति रसौ' नामक ग्रथ लिखा। इसमें काठियावाड के जैन यतियो का वर्णन हुआ है।

मध्यकाल में एक प्रवृत्ति और दिखाई पडती है, वह यह कि इस काल मे नायक के नाम के आगे 'प्रकास', 'विलास' जोड कर रचनाओं का नामकरण करने की कवियों में एक प्रवृत्ति दिखाई पडती है, जिसके अन्तर्गत कई सुन्दर रचनाएँ सामने आई है। किसोरदास राव (भाट) ने 'राज प्रकास' लिखा। इस ग्रंथ की रचना (1658–59) के आसपास हुई है। ऐसे ही 3317 पद्यो की रचना 'सूरज प्रकास' है। इसके रचयिता करणीदान ने ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कर इसका महत्त्व बढाया है। रामदान लालस (1761–1825) ने महाराणा भीमसिंह की ख्याति में 'भीम प्रकास' लिखा। चिमनजी ने 'देवगुण प्रकाश' की रचना की, जिसमें सीकर के राव देवीसिंह की नफज कुलीखा और मुर्तजा अली मे लडाई का वर्णन हुआ है। आढा किसना ने महाराजा भीमसिंह की यशगाथा 'भीम विलास' में लिखी। देसनोक का बीठू भोमो ने 'रतन विलास' लिखा। यह बीकानेर के महाराजा रतनसिंह और उनके पुत्र सरदारसिंह के वक्त मे रचा गया। 18वी शताब्दी के अन्त तक कविया करणीदान की कविता के साथ यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। मध्यकाल के सन्त कवियो में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। जोधपुर के नाथ संप्रदाय के ख्याति प्राप्त कवि उत्तमनाथ ने 19वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'अनुभव प्रकाश' रचा जो कि नाथ सम्प्रदाय म काफी लोकप्रिय हुआ। हमीरदान रतनू ने 'पिंगल प्रकाश' नाम से छन्दशास्त्रीय विवेचन किया। किसना आढा द्वितीय द्वारा रचित 'रघुवीर जस प्रकास' ग्रंथ भी इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। इसके अतिरिक्त 1600 ई. के आस-पास का लिखा एक ग्रंथ 'दलपत विलास' मिलता है। जिसमें दलपतसिंह (बीकानेर नरेश) का प्रारम्भिक जीवन वर्णित हुआ है। इस तरह से यह प्रवृत्ति समस्त मध्यकाल में कमोवेश रूप से प्रवाहित रही।

मध्यकाल मे, कवियों में नायक की वीरता मे कवित्त लिखने की प्रवृत्ति भी देखी जा सकती है। गाडण पसाइत(1400–1487/88) ने 'कवित्त राव रणमल' लिखा। 16वी शताब्दी में बीठू मेहो ने 'कवित्त चौहान करमसी और सावलदास रा' लिखा। आसिया करमसी खीवसरोत ने 'सूजा वालेछा रा' कवित्त लिखा। इसमें सूजा वालेछा के तीन युद्धों का वर्णन है। देसनोक का बीठू भोमो ने 'महाराणा गणपतसिंह रा कवित्त' लिखा। कवित्त लिखने की यह प्रवृत्ति पूरे मध्यकाल मे देखने को मिलती है।

वत्तीसी, तीसी, वावनी, वीसी आदि रचनाएँ पद्यों की संख्या के आधार पर लोकप्रिय वनी। जैसे 'किरतार वावनी', 'सन्तोष वावशी' आदि। ऐसे ही संत कवियो में 'दया वोध', 'समरथ वोध' 'अचल वोध' आदि नामों से ग्रंथ लिखने की परम्परा मिलती है। दुरसा आढा ने 'भूलणा' लिखना शुरू किया तो आगे जाकर यह कवियों का प्रिय वना। ऐसे ही आढा किसना प्रथम ने प्रथम दफा 'नीसाणी महेश दलपतोत री', 'नीसाणी शाहजहाँ पतिसाह री', 'नीसांणी रतन महेशदासोत री' लिखी तो आगे जाकर यह कवियों में काफी प्रिय वनी और नीसाणी छंद में अपनी रचनाएँ लिख अपने ग्रंथों का नामकरण किया। सायां-झूला ने 'नीसाणी राधिका जी री' (अपूर्ण) लिखी। इसमें राधिका और चन्द्रावली के साथ कुंज लीला का वर्णन हुआ है। माधोदास दधवड़िया ने 'नीसांणी गज-मोख' लिखी। यह भागवत में आई घटना पर आधारित है। बारठ नरहरिदास (1723–1763 के लगभग) ने 'गुण राम वार नीसांणी' में सरल भाषा में राम कथा का वर्णन किया है।

वात साहित्य मध्यकाल में काफी फला-फूला। राजस्थानी गद्य में वात साहित्य मध्यकाल की देन है। इसके बाद 'वात' बदल जाती है और पाश्चात्य जगत के प्रभाव के साथ कहानी का प्रादुर्भाव होता है।

मध्यकाल में ऐतिहासिक ग्रंथों में 'ख्यात' मध्यकाल की सबसे बड़ी देन है। ख्यातों में राजस्थान का इतिहास समाया हुआ है। 'मुंहता नैणसी री ख्यात' (1610–1670) ख्यातों में बहुत ही प्रामाणिक ख्यात मानी जाती है। ख्यातकारों में बांकीदास और सिंढायच दयालदास के नाम लोकप्रिय है।

आरम्भकाल में जैसे जैन साहित्य प्रधान रूप से मिलता है वैसे ही मध्य-काल में चारण साहित्य को प्रधानता देखी जा सकती है। समस्त मध्यकाल में चारण कवियों की प्रमुखता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। परन्तु चारण प्रवृत्ति ने कई बातों को सही रूप में समझने में भ्रम पैदा किया है। फिर भी चारणों के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। सम्भवतः यह चारणों का स्वर्णयुग था। परन्तु एक बात यहाँ उल्लेख करने योग्य है, वह यह कि चारण साहित्य की प्रधानता और चारण शैली में अतिशयोक्ति की वजह से राजस्थानी को निंदा के रूप में 'चारणों की भाषा' कहने का दुस्साहस भी हुआ है। तात्पर्य यह कि

चारणों ने जहाँ राजस्थानी साहित्य को समृद्ध किया है वहाँ राजस्थानी की स्थिति को कहीं-कुछ न्यून भी किया है।

रासो, आख्यान, वेलि, संतसाहित्य मध्यकाल की मोटी धरोहर हैं जिसने भारतीय साहित्य को काफी समृद्ध बनाया है। हिन्दी साहित्य में भी इस साहित्य की प्रमुखता से चर्चा है। इस तरह मध्यकाल में से गुजरती राजस्थानी आधुनिक काल में प्रवेश करती है।